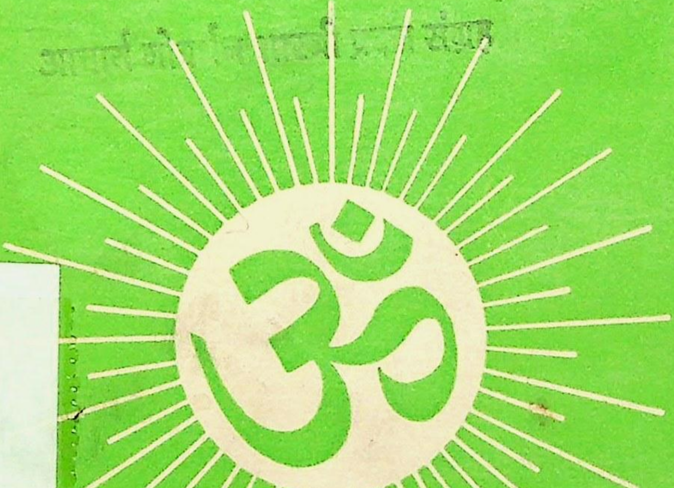
वेदामृतम्

सुखी समाज

[समाज सुखी कैसे हो?]



डा० कपिलदेव द्विवेदी

आचार्य गोवर्धन शास्त्री
उपहार — हेतु..

(HO

ओ३म्

वेदामृतम्

भाग—४

सुखी समाज

[समाज सुखी कैसे हो ?]

(HOW TO MAKE SOCIETY PROSPEROUS ?)

लेखक

डॉ० कपिलदेव द्विवेदी आचार्य

कुलपति, गुरुकुल महाविद्यालय
ज्वालापुर (हरिद्वार)

एवं

निदेशक, विश्वभारती अनुसंधान परिषद्
ज्ञानपुर (वाराणसी)

विश्वभारती अनुसंधान परिषद्

ज्ञानपुर (वाराणसी)

VEDAMRITAM–Vol. IV
(SUKHI SAMAJ)
HOW TO MAKE SOCIETY PROSPEROUS ?

By : Dr. K. D. DVIVEDI

सन् १९८३ ई०
प्रथम संस्करण

मूल्य : सजिल्द २०.००
अजिल्द ८.००

वितरक :
विश्वभारती बुक एजेन्सी,
ज्ञानपुर (वाराणसी)

प्रकाशक :
विश्वभारती अनुसंधान परिषद्
शान्ति-निकेतन, ज्ञानपुर (वाराणसी)

मुद्रक :
धर्मराज प्रिंटिंग प्रेस,
एस० २६/९३ मीरापुर बसहीं,
वाराणसी ।

प्राक्कथन

पुस्तक-लेखन का उद्देश्य—वेद आर्य जाति का सर्वस्व है, मानव-मात्र का प्रकाश-स्तम्भ और शक्ति-स्रोत है। वेदों का प्रकाश संसार भर में फैलकर मानव-जीवन में व्याप्त निराशा, अज्ञान, अन्धकार, दुर्विचार, अनाचार, दुर्गुण, आधि-व्याधि और दिशा-भ्रम को दूर करे, जिससे ज्ञान, आचार, संयम और सुसंस्कृति का आलोक सर्वत्र व्याप्त हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए चारों वेदों से विभिन्न विषयों पर मन्त्रों का संकलन किया गया है। वेदों के मन्त्र सरल संस्कृत के तुल्य सुबोध और हृदयंगम हो सकें, इसलिए प्रत्येक मन्त्र का अन्वय, शब्दार्थ, अनुशीलन, टिप्पणी आदि देकर उसे सुगम बनाया गया है। साधारण हिन्दी जानने वाला व्यक्ति भी इस प्रकार वेदों के अमृत का रसास्वाद कर सकता है।

योजना का स्वरूप—इस वेदामृतम्-ग्रन्थमाला की योजना है कि वेदों में वर्णित सभी ज्ञान और विज्ञान के विषय पृथक्-पृथक् ग्रन्थों में विषयानुसार वर्णित हों। इसलिए विषयानुसार वेदामृतम् ४० खण्डों में प्रकाशित करने की योजना है। इसका प्रथम भाग 'सुखी जीवन', द्वितीय भाग 'सुखी गृहस्थ' और तृतीय भाग 'सुखी परिवार' नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। चतुर्थ भाग 'सुखी समाज' पाठकों के हाथों में समर्पित है।

व्याख्या की पद्धति—प्रत्येक मन्त्र को अत्यन्त सरल ढंग से समझाने के लिए सर्वप्रथम मन्त्र का अन्वय दिया गया है। अन्वय के अनुसार ही प्रत्येक शब्द का हिन्दी में अर्थ दिया गया है। तदनुसार मंत्र का हिन्दी में अर्थ है और उसके पश्चात् मंत्र का अंग्रेजी अनुवाद भी अंग्रेजी जानने वालों की सुविधा के लिए दिया गया है। अनुशीलन में मन्त्र का भाव व्याख्या के ढंग से समझाया गया है। मंत्र में व्याकरण आदि की दृष्टि से व्याख्या के योग्य शब्दों का प्रकृति-प्रत्यय आदि टिप्पणी में दिया गया है। इससे पाठक मंत्रों का अर्थ आदि सूक्ष्मता के साथ समझ सकेंगे।

मंत्र-संख्या, क्रम और मन्त्रार्थ-विधि—प्रत्येक भाग में उस विषय से सम्बद्ध

१०० मंत्र दिए गए हैं। चारों वेदों में उस विषय पर जो सरल और अत्यन्त उपयोगी मंत्र प्राप्त हुए हैं, उन्हें चुना गया है। वेद-प्रेमियों के लिए चार मंत्र अवश्य स्मरणीय हैं, गायत्री मंत्र, विश्वानि देव०, ईशा वास्यमिदं सर्वम्, स्तुता मया वरदा वेदमाता, अतः ये चार मन्त्र बीज-मंत्र के रूप में सभी भागों में समाविष्ट किए गए हैं। चारों वेदों से सरलतम मंत्रों का ही इसमें संकलन है। मंत्रों को विषय और भाव की दृष्टि से क्रमबद्ध किया गया है। मन्त्रार्थ के विषय में महर्षि पतंजलि के वैज्ञानिक मन्तव्य को अपनाया गया है कि **'यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्'** जो शब्द कहता है, वह हमारे लिए प्रमाण है। मन्त्र के पाठ से जो अर्थ स्वयं निकलता है, उस अर्थ को ही लिया गया है। एक परमात्मा के ही अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि नाम हैं, अतः यथास्थान इन शब्दों का अर्थ परमात्मा दिया गया है।

अनुशीलन—प्रत्येक मन्त्र में कुछ उपयोगी शिक्षाएं हैं। उनको अनुशीलन में स्पष्ट किया गया है। आवश्यकतानुसार अन्य ग्रन्थों से भी उपयोगी एवं भाव-साम्य वाले सुभाषितों को इसमें समाविष्ट किया गया है। नैतिक एवं जीवनोपयोगी शिक्षाओं का विवरण मुख्यरूप से दिया गया है। ज्ञानवृद्धि के लिए अनुशीलन की विशेष उपयोगिता है। विज्ञ पाठकों के लिए टिप्पणी में दिया गया व्याकरण आदि का निर्देश विशेष लाभकर सिद्ध होगा। प्रत्येक भाग में दिए मन्त्रों में प्राप्य १०० सुभाषित हिन्दी अर्थ के साथ ग्रन्थ के अन्त में दिए गए हैं। ये सुभाषित कण्ठस्थ करने योग्य हैं।

पुस्तक के प्रकाशन-सम्बन्धी कार्यों में ज्येष्ठ पुत्र डा० भारतेन्दु द्विवेदी, डी० फिल्० से विशेष सहयोग प्राप्त हुआ है, तदर्थ वह आशीर्वाद का पात्र है।

आशा है यह ग्रन्थ सभी वेद-प्रेमियों का आदर प्राप्त करेगा और उनकी वेदों में रुचि बढ़ाएगा।

शान्ति-निकेतन **डा० कपिलदेव द्विवेदी**
ज्ञानपुर (वाराणसी)
२८-३-८३ ई० (होली, २०३९ वि०)

भूमिका

समाज सुखी कैसे हो ?

व्यक्ति और समाज—व्यक्ति और समाज परस्पर संबद्ध अंग हैं। व्यक्ति अंग है और समाज अंगी। समाज का अस्तित्व व्यक्ति पर निर्भर है। व्यक्ति का आचार, दर्शन, कर्तव्य, निष्ठा और संस्कृति समाज में प्रतिबिम्बित होती है। समाज का मूल रूप व्यक्ति या व्यष्टि में निहित है। व्यष्टि का ही समन्वित रूप समष्टि है। समष्टि ही समाज है। व्यक्ति के बिना समाज नहीं बन सकता है और समाज के बिना व्यक्ति का अस्तित्व नहीं है। अतः ये दोनों एक दूसरे के सहयोगी हैं। समाज का उत्थान-पतन, आरोह-अवरोह, उन्नति-अवनति और उत्कर्ष-अपकर्ष व्यक्ति की चारित्रिक उन्नति और अवनति पर निर्भर है। वृक्ष को हरा-भरा रखने के लिए उसके मूल को सींचना आवश्यक है, उसी प्रकार समाज को विकसित एवं समृद्ध रखने के लिए व्यक्ति को समुन्नत करना आवश्यक है। व्यक्ति की उन्नति का मूल-मन्त्र उसका चारित्रिक विकास है। इससे ही व्यक्ति में सभी सद्गुणों का समावेश होता है। विकसित व्यक्तियों से ही समाज समुन्नत और प्रगतिशील होता है।

व्यक्ति एक इकाई है और समाज संगठन है। व्यक्ति के सामर्थ्य की कुछ सीमाएँ हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के लिए आवश्यक सभी पदार्थों को तैयार नहीं कर सकता है। समाज समष्टि है। समाज व्यक्ति की आवश्यकताओं को पूरा करता है, समन्वय स्थापित करता है और दिशा-निर्देश करता है। समाज गुण-धर्मानुसार कार्यों का विभाजन करता है। जो जिस कार्य के लिए योग्यतम होते हैं। उन्हें उस प्रकार का कार्य दिया जाता है। इस प्रकार सभी कार्यों के लिए समर्थ व्यक्ति मिल जाते हैं।

इस सामाजिक व्यवस्था के आधार पर ही वर्णों की सृष्टि हुई थी। शिक्षा

एवं धार्मिक अनुष्ठानों का कार्य ब्राह्मणों को दिया गया, रक्षा एवं देश-सुरक्षा का कार्य क्षत्रियों को दिया गया, अर्थ-व्यवस्था का समस्त कार्यभार वैश्यों को दिया गया और समस्त शिल्प कर्म एवं शारीरिक श्रम-सम्बन्धी कार्य शूद्रों को दिए गए। इसका ही विकृत रूप वर्तमान जातियाँ हैं।

समाज के समन्वित विकास के लिए आवश्यक है कि वह सभी दृष्टियों से समुन्नत हो। समाज के सभी पक्षों का उत्कर्ष हो। इस दृष्टि से समाज को सुखी बनाने के लिए उसका धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और चारित्रिक सभी पक्षों का उन्नयन करना होगा। वेदों में समाज के उन्नयन के लिए प्रायः सभी पक्षों का प्रतिपादन किया गया है। उनका ही संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

धार्मिक कर्तव्य

समाज को सुखी रखने के लिए आवश्यक है कि उसमें धार्मिक भावना जागृत हो। धार्मिक भावना के जागरण से ही अस्तिकता, सच्चरित्रता, मानसिक प्रसन्नता और आत्मिक सुख की अनुभूति होती है। धार्मिक भावना के अभाव में समाज में अनाचार, पाप-भावना, हिंसा, अत्याचार और अनैतिकता का वातावरण तैयार होता है, अतएव वेद का आदेश है कि परमात्मा को सर्वव्यापक मानते हुए सदा शुभ कर्म करो। अपने पुरुषार्थ से प्राप्त धन का ही उपयोग करो। दूसरे के धन की ओर लोभयुक्त दृष्टि से न देखो। जीवन में त्याग की भावना जागृत करो। इससे ही जीवन सुखमय होगा। (मन्त्र ३)

अथर्ववेद का कथन है कि सत्य और आस्तिकता से यह पृथ्वी रुकी हुई है, (मन्त्र २८)। जिस समाज में सत्य और आस्तिकता है, वहाँ सुख और शान्ति है, जहाँ इनका अभाव है, वहाँ दुःख और अशान्ति है। अथर्ववेद का ही कथन है कि यदि समाज में मनुष्यों और पशुओं को सुखपूर्वक जीने देना है तो आस्तिकता का वातावरण अत्यावश्यक है। आस्तिकता के वातावरण में ही मनुष्य और सभी प्रकार के पशु सुख से जीते हैं। (मन्त्र ९७)

ऋग्वेद का कथन है कि मनुष्य को संकट से बचाने वाला परमात्मा ही है। संकट के समय सभी उसको पुकारते हैं। अपने जीवन की रक्षा और समृद्धि के लिए उस प्रभु का ही ध्यान करना चाहिए। (मन्त्र ६) ईश्वरोपासना सुख और शान्ति का मूल है। व्यक्ति और समाज दोनों के अभ्युदय के लिए ईश्वर का ध्यान, मनन और चिन्तन अत्यन्त उपयोगी है।

समाज की समृद्धि के लिए यज्ञ को अत्यावश्यक कर्तव्य माना गया है। अतएव प्रत्येक गृहस्थ के लिए पंच यज्ञों का विधान है। यज्ञ को पृथिवी का धारक बताया गया है, (मन्त्र २८)। जिस समाज में सभी प्रकार के व्यक्ति यज्ञ करते हैं, वह समाज सभी प्रकार से सुखी और प्रसन्न रहता है। उस समाज में ज्ञान का प्रकाश फैलता है, (मन्त्र ६५)। चारों वेदों में यज्ञ का बहुत महत्त्व वर्णित है। वातावरण को शुद्ध करने का यज्ञ के अतिरिक्त और कोई उत्तम उपाय नहीं है। यज्ञ से पृथिवी, जल और वायु के सभी दूषित कण नष्ट होते हैं और स्वच्छता का संचार होता है।

समाज के अभ्युदय के लिए वेदों का ज्ञान परम आवश्यक है। वेद को कल्याणी वाणी कहा गया है। वेदों में विश्वहित का वर्णन है, अतः उसे विश्व-कल्याण-कारिणी वाणी कहा जाता है। वेदों के प्रति निष्ठा, रुचि और मार्गदर्शन की भावना समाज को उन्नति की ओर ले जाती है, अतएव यजुर्वेद (मन्त्र ८) में वेदों का ज्ञान चारों वर्णों तथा अन्य व्यक्तियों के लिए भी कल्याणकारी बताया गया है। अतएव ऋग्वेद और सामवेद (मन्त्र ९) में कहा गया है कि हम जीवन में वेदोक्त कर्मों को ही करें। (**मन्त्रश्रुत्यं चरामसि**)।

वेदों के ज्ञान को इतना पवित्र माना गया है कि यह मनुष्यमात्र के अभीष्ट को पूरा करता है। वेदों का ज्ञान प्राप्त करना और तदनुकूल आचरण करना मानवमात्र के लिए सुखकर है। अतएव वेदों को 'वरदा वेदमाता' कहा गया है। इससे समाज को दीर्घायु, धन-धान्य, ओजस्विता, यश आदि मिलता है, (मन्त्र १००)

धार्मिक कार्यों में व्रत और श्रद्धा को बहुत महत्त्व दिया गया है। व्रत से

कार्य के प्रति निष्ठा जागृत होती है। इस निष्ठा से योग्यता आती है। योग्यता से श्रद्धा उत्पन्न होती है और श्रद्धा के जागरण से सत्यस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति होती है, (मन्त्र १५, २९)।

पारिवारिक कर्तव्य

वेदामृतम् के भाग २ 'सुखी गृहस्थ' और भाग ३ 'सुखी परिवार' में पारिवारिक कर्तव्यों का विस्तृत विवरण दिया गया है। इस भाग में भी कुछ पारिवारिक कर्तव्यों की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है।

परिवार में सुख का मूल प्रेम है। परिवार और समाज में यदि प्रेम है, सद्भाव है तथा परस्पर सहयोग की भावना है तो वह परिवार और समाज सदा फूलता-फलता रहेगा। अतएव वेद का आदेश है कि भाई-भाई में प्रेम हो, बहिन-बहिन में प्रेम हो। सब मिल-जुलकर प्रेम से कार्य करें और सदा मधुर वचन ही बोला करें, (मन्त्र ७३)।

पुत्र के कर्तव्यों का निर्देश किया गया है कि वह माता और पिता का आज्ञाकारी हो। पिता के कर्मों में सहयोगी हो और माता के प्रति सदा आदर भाव रखे। इसी प्रकार पत्नी के लिए उपदेश दिया गया है कि वह पति से मधुर वाणी बोले। उसके वचन शान्तिपूर्ण हों। क्रोध या आवेश में पति को कभी भी अनुचित वचन न कहे, (मन्त्र ७२)।

वेदों में पत्नी को बहुत आदर का स्थान दिया गया है। वह परिवार का भरण-पोषण करती है, अतः उसे 'पुरन्धि' कहा गया है, (मन्त्र ४)। पत्नी को गृहस्वामिनी कहा गया है। वह पति के परिवार में पहुँच कर उस परिवार की स्वामिनी बन जाती है, (मंत्र ७४)। पत्नी का कर्तव्य है कि वह परिवार की समृद्धि को ही अपनी समृद्धि समझे।

सामाजिक कर्तव्य

चारों वर्ण समाजरूपी भवन के चार स्तम्भ हैं। यदि स्तम्भ दृढ़ हैं तो वह भवन भी सुदृढ़ रहेगा। समाज का गौरव चारों वर्णों की श्रीवृद्धि पर निर्भर

है। अतएव वैदिक राष्ट्रीय प्रार्थना (मन्त्र ४) में ब्राह्मणों के लिए कहा गया है कि वे ज्ञानी और तेजस्वी हों। क्षत्रिय, वीर, योद्धा और महारथी हों। वे रथों पर बैठकर शत्रुसेना पर विजय प्राप्त करें। वैश्य संपत्तिशाली हों और उनके पुत्र भी वीर और सुशील हों। राष्ट्र में योगक्षेम हो। यजुर्वेद (मन्त्र २१) में चारों वर्णों के लिए तेजस्विता की प्रार्थना की गई है। जिस समाज में तेजस्विता होती है, उसका ही संसार में यश फैलता है। तेज से आत्मविश्वास, पुरुषार्थ, संयम और निर्भीकता आती है। तेजस्वी समाज दूसरों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करता है और उन्हें अपने अनुकूल बनता है। अतएव मन्त्र ६२ में कहा गया है कि मैं स्वयं तेजस्वी हूँ। मेरा बल और पराक्रम तीक्ष्ण है। मैं जिसका पुरोहित होता हूँ. उसे भी तेजस्वी और विजयी बना देता हूं।

वेद का कथन है कि ब्रह्म शक्ति और क्षत्र-शक्ति समाज की धुरी हैं। जहाँ इन दोनों शक्तियों में सामंजस्य है, वहाँ शक्ति और तेजस्विता है। वहीं पवित्रता है। (मन्त्र ९५)। ब्रह्मशक्ति ज्ञान का प्रतीक है और क्षत्रशक्ति शारीरिक बल का। ब्राह्मण दिशा-निर्देश करता है, मार्ग-प्रदर्शन करता है और क्षत्रिय उसको कार्यान्वित करता है। दोनों का समन्वय अनिवार्य है। अतएव मंत्र ९६ में ब्रह्म और क्षत्र शक्ति की दृढ़ता से योगक्षेम की वृद्धि कही गई है।

समाज को सुसंगठित करने एवं एक सूत्र में बांधने में खान-पान का बहुत महत्त्व है। वेदों में 'सग्धि' अर्थात् सहभोज और 'सपीति' अर्थात् सह-जलपान का वर्णन आता है। इसी भाव को मंत्र ४१ में प्रतिपादित किया गया है कि भोजन और जलपान के स्थान एक हों। साथ मिलकर खावें और पीवें। इससे पारस्परिक स्नेह और सद्भाव की वृद्धि होती है।

समाज को संगठित करने के लिए आवश्यक है कि समाज में परस्पर सहयोग की भावना हो। जहाँ सहानुभूति और समवेदना होती है, वहाँ हार्दिक एकता होती है। यह सहयोग की भावना ही समाज को प्रगति की ओर अग्रसर करती है। अतएव वेद का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे की रक्षा करे। उन्हें कष्टों एवं संकटों से बचावे। **(पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः, मंत्र ६०)।**

ऊँच-नीच या बड़े-छोटे का भाव समाज को विशृंखल करता है तथा हार्दिक एकता को नष्ट करता है। अतएव वेद का उपदेश है कि भ्रातृभाव को बढ़ाकर समृद्धि को प्राप्त करो। ऊँच-नीच का भेद-भाव नष्ट करो। सबको बराबर समझने से प्रेम बढ़ता है। अतएव मंत्र में बड़े और छोटे सबको नमस्कार किया गया है। (मंत्र ६४, ६६)

वेद की शिक्षा है कि सामूहिक कार्यों में मनुष्य की सद्बुद्धि होनी चाहिए। सामूहिक या सामाजिक कार्यों को सहयोग की भावना से करें। सामाजिक कार्यों में असहयोग या उपेक्षा से प्रगति अवरुद्ध होती है। (मंत्र ४२)

प्रत्येक समाज की कुछ प्राचीन परंपराएं होती हैं। ये परंपराएं उस समाज की प्राचीन संस्कृति की द्योतक हैं। अनुपयोगी और अनावश्यक परंपराओं का परित्याग उचित है, परन्तु उपयोगी एवं उपादेय परंपराओं को पूर्ववत् प्रचलित रखना समाज की अभिवृद्धि के लिए आवश्यक है। अतएव वेद का कथन है कि प्राचीन परंपराओं का परित्याग परित्याग न करें। (मंत्र ७१)

समाजसेवा एक पवित्र व्रत है। जो व्यक्ति समाज या देश के लिए अपना जीवन अर्पित करते हैं, उनका संमान करना समाज का कर्तव्य है। ऐसे व्यक्ति वस्तुतः समाज के लिए पथ-प्रवर्तक और प्रकाश-स्तंभ होते हैं। ये जन-साधारण में जागृति और चेतना उद्बुद्ध करते हैं। अतः इन्हें वेद में '**लोककृतः**' और '**पथिकृतः**' कहा गया है। वेद का आदेश है कि ऐसे समाजसेवियों का सदा संमान किया जाना चाहिए। (मंत्र ६९)

आर्थिक कर्तव्य

समाज की समृद्धि आर्थिक उन्नति और विकास पर निर्भर है। जो समाज जितना उन्नत और विकसित होगा, उतना ही वह प्रतिष्ठित माना जाएगा। प्रत्येक समाज का कर्तव्य है कि वह आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ न हो। उसके आय के स्रोत विकसित हों, सभी ओर से अर्थागम हो और उसका ठीक विनियोग हो। अर्थ के समुचित लाभ को 'योग' कहते हैं और उसकी सुरक्षा को 'क्षेम'। योगक्षेम का अर्थ होता है—धनागम और धन-संरक्षण। यजुर्वेद में राष्ट्रीय प्रार्थना में कहा गया

है कि—हमारे समाज में योगक्षेम हो, (मंत्र ४)। ऋग्वेद और सामवेद में भी समाज के सभी अंगों की समृद्धि की कामना की गई है, (मंत्र ६१)।

मानव-जीवन की सभी सुख-सुविधाएं धन पर निर्भर हैं। जहाँ ऐश्वर्य है, वहाँ सुख है। जहाँ आय के स्रोत उत्तम हैं, वहाँ भौतिक सुख अनायास उपलब्ध होते हैं। भौतिक उन्नति का सार धन है। धन से ही विद्या, यश, प्रतिष्ठा, आजीविका, विकास और अभ्युदय होता है। अतएव वेदों में अर्थोपार्जन और श्रीवृद्धि की सैकड़ों मंत्रों में कामना की गई है। अथर्ववेद का कथन है कि समस्त ऐश्वर्य हमें प्राप्त हों, (मंत्र ५)। समस्त ऐश्वर्य के स्वामी परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि हमें सभी प्रकार का ऐश्वर्य प्राप्त हो। हमें ऐश्वर्य के लिए मार्ग-दर्शन करो। (मंत्र १६, १७)। ऋग्वेद का कथन है कि ऐश्वर्य का सर्वोत्तम उपाय है—सन्मार्ग पर चलना। सन्मार्ग पर चलने और शुभ कर्मों को करने से जो श्रीवृद्धि होती है, वह स्थायी होती है, (मंत्र १८)। पृथ्वी सूक्त में मातृभूमि से कामना की गई है कि वह शुभ लक्ष्मी से हमें सुप्रतिष्ठित करे, (मंत्र ५०)।

व्यापार और वाणिज्य धन-प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है। अतएव कहा गया है—व्यापारे वसति लक्ष्मीः। व्यापार में लक्ष्मी का निवास है। वेद में व्यापार का संकेत करते हुए कहा गया है कि परस्पर वस्तुओं का आदान-प्रदान किया जाए, (मंत्र ७०)। समाज में जहाँ जिस वस्तु की आवश्यकता है, वहाँ वह वस्तु पहुँचाई जाए। समाज का प्रत्येक वर्ग अपने श्रम से कुछ वस्तुओं का उत्पादन करे और उसे समाज के उपयोग के लिए प्रस्तुत करे। वस्तु-विनिमय और क्रय-विक्रय दोनों प्रकार इसके लिए उपयुक्त हैं।

ऋग्वेद में अर्थोपार्जन के साधनों में शिल्प को विशेष महत्त्व दिया गया है। ऋग्वेद (मंत्र ८२) का कथन है कि नवीन उद्योग से शीघ्र श्रीवृद्धि होती है। नए उद्योग-धन्धे जनसाधारण की विशिष्ट आकांक्षाओं की पूर्ति करते हैं, अतः उनके द्वारा धन की प्राप्ति भी सरल होती है। यजुर्वेद के ३० वें अध्याय में विविध शिल्पों का बहुत विस्तृत वर्णन किया गया है। मंत्र ८३ और ८४ में कुछ शिल्पों का वर्णन उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया गया है। 'श्रम ही जीवन है' 'श्रम ही गति

है'। श्रम ही परिवार, समाज और राष्ट्र का उन्नायक है। जिस समाज में श्रम का महत्त्व प्रतिष्ठित होता है, वही समाज सदा उन्नति की ओर अग्रसर होता है। विविध शिल्पों का उल्लेख यह निर्देश करता हैं कि कोई भी शिल्प हीनता का सूचक नहीं है। शिल्प समाज की आवश्यकता की पूर्ति करते हैं, अतः वे अन्य कर्मों के तुल्य सम्मान के योग्य हैं।

आर्थिक विकास में अन्न का भी विशेष महत्त्व है। धन के साथ ही धान्य को भी इसीलिए जोड़ा गया है कि केवल धन से ही सारे काम नहीं चल सकते हैं। धान्य या अन्न ही जीवन का आधार है। अतएव वेद में अन्न की विशेष रूप से प्रार्थना की गई है। परमात्मा को अन्नपति कहा गया है। वह अन्न का दाता है। मंत्र में स्वास्थ्य-वर्धक और रोग-नाशक अन्न को ही महत्त्व दिया गया है। (मंत्र ७५)

राष्ट्रीय कर्तव्य

समाज का हित राष्ट्रीय हित के साथ जुड़ा हुआ है। समाज और राष्ट्र परस्पर संबद्ध हैं। समाज की उन्नति से राष्ट्रीय उन्नति होती है और राष्ट्रीय अभ्युदय से समाज का अभ्युदय। उन्नति और विकास के लिए अनिवार्य है कि राष्ट्र स्वाधीन हो। परतन्त्र राष्ट्र अभीप्सित उन्नति नहीं कर सकता है। अतएव वेद में स्वराज्य को जन्मसिद्ध अधिकार बतलाया गया है, (मंत्र ४७)। मंत्र का कथन है कि स्वराज्य या स्वतन्त्रता मानव का जन्मसिद्ध अधिकार है। यह परमात्मा का आदेश है। कोई अजेय व्यक्ति या कोई देवता इस अधिकार को मनुष्य से नहीं छीन सकता है।

स्वतन्त्र राष्ट्र में शासन की कौन सी विधि अधिक उपयुक्त है—राजतन्त्र या जनतन्त्र ? इस विषय में वेद का कथन है कि जनराज्य या जनतन्त्र प्रणाली अधिक महत्त्वपूर्ण है। अतएव वेद में महान् जनराज्य की कामना की गई है। (**महते जानराज्याय**, मंत्र ४८)

शासन का संचालन योग्यतम व्यक्ति के हाथ में होना चाहिए। उसे लोकप्रिय और जन-हितैषी होना चाहिए। जन-साधारण की भावनाओं को जानने वाला

व्यक्ति ही नेतृत्व कर सकता है। वही लोगों को अपने अनुकूल बनाकर सन्मार्ग पर ले जाता है। (मंत्र ६८)

समाज या राष्ट्र को सुसंगठित करने के लिए समाज में एकता और संगठन की भावना होनी चाहिए। वेदों में अनेक मंत्रों में संगठन की उपयोगिता वर्णित है। परमात्मा सबका पिता है, वह सबको मिलाने वाला है, अतः सबको मिलकर ऐश्वर्य प्राप्त करना चाहिए, (मंत्र ३५)। संगठन के लिए मिलकर चलना और समान भावों को प्रकट करना आवश्यक है। सबके मानसिक विचार एक प्रकार के हों, (मंत्र ३६)। सब लोगों की मंत्रणाएं समान हों। सबके मन और विचार समान हों, (मंत्र ३७)। सबके मन, वचन और कर्म समान हों। सबका निश्चय एक प्रकार का हो, (मंत्र ३८, ३९)। जिस प्रकार गाय अपने नवजात बछड़े से प्रेम करती है, इसी प्रकार समाज के व्यक्ति परस्पर प्रेम-व्यवहार करें, (मंत्र ५९)।

समाज के प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह राष्ट्रहित को सर्वोपरि माने। राष्ट्रहित के साथ ही देश की स्वतन्त्रता की रक्षा करे, जनकल्याण के साथ ही विश्व-कल्याण की भी सदा चिन्ता करे। (मंत्र ४९)

वेद में प्रार्थना की गई है कि हम मातृभूमि के योग्य पुत्र सिद्ध हों। पृथ्वी हमारी माता है और हम उसके पुत्र हैं। (**माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः**, मंत्र ५१)। देश की रक्षा के लिए सतत जागरूक रहने की आवश्यकता है और आत्मबलिदान-हेतु अग्रगण्य होने की आवश्यकता है। (**वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा**, मंत्र ५२)। राष्ट्र के लिए आवश्यकता पड़ने पर बलिदान होने के लिए उद्यत रहें, (मंत्र ५३)। युद्धों में वीर पुरुषों के तुल्य जावें और रणभूमि में अपना शरीर छोड़ें, (मंत्र ५४)। भाषा-भेद और धर्म-भेद होने पर भी समाज में एक परिवार के तुल्य एकता बनी रहनी चाहिए। उनमें मनोमालिन्य या द्वेष नहीं होना चाहिए, (मंत्र ६७)।

समाज में सुखद जीवन बिताने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य लोक-प्रिय हो। समाज का कोई भी वर्ग हो, उच्च या नीच, सभी से प्रेम का व्यवहार करना अभीष्ट है। अतः मंत्र कहता है कि हम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी के प्रिय हों, (मंत्र २०)।

समाज की उन्नति के लिए आवश्यक है कि समाज के सभी वर्ग तेजस्वी हों। चारों वर्ण तेजस्वी हों, सभी व्यक्ति तेजस्वी हों, (मन्त्र २१)। जो सूर्य में तेजस्विता है, वह तेजस्विता समाज के सभी व्यक्तियों में हो, (मन्त्र २२)। पुरोहित का कर्तव्य है कि वह समाज के सभी वर्गों को प्रबुद्ध और तेजस्वी बनावे, (मंत्र ६२)।

वेदों में नीरोगता और जन-स्वास्थ्य पर विशेष बल दिया गया है। मनुष्य और पशु सभी हृष्ट-पुष्ट एवं नीरोग हों। कोई भी रोग-ग्रस्त न हो। (मंत्र ७८, ७९)। शासकों का कर्तव्य है कि वे देखें कि समाज में कोई भी व्यक्ति भूखा-प्यासा न रहे। अन्न, जल और वस्त्रादि की व्यवस्था करना प्रशासन का प्रमुख कर्तव्य है। (**एष वां द्यावापृथिवी उपस्थे, मा क्षुधन्मा तृषत्**, मंत्र ८०)। जन-कल्याण के साथ ही पशु-कल्याण का भी पूरा ध्यान रखना आवश्यक है, (मंत्र ५, ३३)।

समाज में जब जन-शोषक वर्ग को प्रश्रय मिलता है, तब समाज का विनाश होता है। अतएव वेद की शिक्षा है कि जन-शोषकों के समाज को हित के लिए नष्ट करना चाहिए, (मन्त्र ९१)। राष्ट्र के हितों की रक्षा के लिए शत्रु-सेना का सदा संहार करना चाहिए। इसके लिए इन्द्र को उदाहरण के रूप में रखा गया है कि उसने शत्रुओं की सौ सेनाओं को अकेले ही नष्ट किया, (मंत्र ५५)। देश के सैनिकों का बल और तेज अधृष्य हो। वे जहाँ भी युद्ध में जाएँ, विजयी हों, (मन्त्र ५६)। सभी नागरिक वीर, योद्धा, शस्त्रास्त्रवेत्ता और अजेय हों। वे युद्धों में शत्रुसेना को नष्ट-भ्रष्ट करें, (मन्त्र ५७)। अपने ध्वजों के साथ सेना आगे बढ़े और शत्रुओं का पीछा करके उन्हें नष्ट करे, (मन्त्र ५८)। हमारे समाज में कोई भी देशद्रोही या विश्वासघाती न रहने पावे, (मन्त्र ९०)। देश-द्रोह अक्षम्य अपराध है। देशद्रोही को आश्रय देना सर्वथा निन्द्य है। समाज में यदि कोई मायावी, छली या प्रपंची है, तो उसको जैसे भी हो, नष्ट करना चाहिए। ऐसे व्यक्ति समाज के हित के घातक हैं। (मन्त्र ८९)

जीवन में संगति का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। जैसे व्यक्तियों की संगति की जाती है, वैसा ही मनुष्य का जीवन बन जाता है। अतएव वेद का

आदेश है कि दुर्जनों की संगति सर्वथा त्याज्य है। सज्जनों की संगति से अपनी जीवन-नौका को भवसिन्धु के पार ले चलें, (मन्त्र ९३)। दुर्जनों से सदा सावधान रहें। उन्हें अपने समीप न आने दें। दुर्जन अनिष्ट-चिन्तक और दुखदायी होते हैं, (मन्त्र ९२)।

वेद प्रकाश-स्तंभ हैं। वेद से विमुख होना प्रकाश को छोड़कर अन्धकार की ओर जाना है। वेद ज्ञानमय हैं। ज्ञान जीवन का उन्नायक है, अतः वेदों की निन्दा करना या वेदों की उपेक्षा करना महान् पाप है। वेद का आदेश है कि ऐसे वेद-द्रोहियों को समाज से नष्ट कर देना चाहिए। (मंत्र ९४)

आस्तिकता जीवन की प्रगति का साधन है और नास्तिकता पतन का। नास्तिकता के साथ अकर्मण्यता, निराशा, खिन्नता और अनुत्साह आते हैं। इनसे मनुष्य स्वयं नष्ट हो जाता है। अतएव वेद का कथन है कि नास्तिक और अकर्मण्य व्यक्ति अपने कर्मों से ही नष्ट होते हैं। उनकी संपत्ति दूसरे के पास चली जाती है, (मन्त्र ९९)।

नैतिक कर्तव्य

नैतिक कर्तव्य जीवन की आधार-शिला हैं। नैतिक कर्तव्यों के पालन से ही जीवन उन्नत और विकसित होता है। जिस समाज में नैतिक गुणों का आदर है, वह समाज दिन-प्रतिदिन उन्नति की ओर अग्रसर होता है। वेदों में नैतिक शिक्षा से सम्बद्ध सैकड़ों मन्त्र हैं। समाज के उन्नायक तत्त्वों का ही यहाँ संग्रह किया गया है। ये गुण समाज को सुखी, समृद्ध और प्रगतिशील बनाते हैं।

इनमें सबसे प्रमुख ऋत और सत्य हैं। ईश्वरीय शाश्वत नियमों को ऋत कहते हैं। ऋत से ही संसार रुका हुआ है। पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि का नियामक ऋत ही है। अतएव पृथिवी-सूक्त के प्रथम मन्त्र में ऋत और सत्य को पृथिवी का धारक कहा गया है। सत्य महान् है और ऋत उग्र है। इनका पालन न करने वाला नष्ट हो जाता है, (मन्त्र २८)। जो प्राकृतिक नियमों का पालन करते हैं, वे ऐश्वर्यशाली होते हैं, (मन्त्र ७६)।

सत्य-भाषण, सत्य व्यवहार और असत्य का त्याग जीवन में जागृति लाते हैं। जीवन में चेतनता, जागृति और प्रबुद्धता का आश्रय सत्य है, अतः उसे जीवन में अपनाना चाहिए, (मन्त्र ३०)। सत्य का मार्ग निष्कंटक है। इसमें कभी पतन नहीं है। सदा उन्नति और विकास है। यह जीवन-यात्रा के लिए सर्वोत्तम सरणी है, (मन्त्र ३१)। सत्य तेजस्विता का आधार है। सत्य की अग्नि पापों और पापियों को नष्ट करती है। पापी सत्यवादी के संमुख टिक नहीं सकते हैं, (मन्त्र ३२)।

जीवन में पुरुषार्थ ही अभीष्ट का साधक है। जो पुरुषार्थी है, उसे ही संसार के सभी सुख प्राप्त होते हैं, आलसी को नहीं। अतएव वेद का आदेश है कि १०० वर्ष तक कर्म करते हुए जीवित रहो। कर्मों में आसक्त न हो। निष्काम कर्म करने से मनुष्य कर्म-बन्धन में नहीं फंसता है, (मन्त्र १०)। सभी देवगण पुरुषार्थी को ही चाहते हैं, आलसी को नहीं। जो पुरुषार्थी हैं, उन्हें ही जीवन के सुख प्राप्त होते हैं, (मन्त्र ११)। जो मनुष्य अथक परिश्रमी होता है, उसे सभी सुख-संपदा प्राप्त होती है, (मन्त्र १२)। पुरुषार्थी में ही तेजस्विता और कान्ति आती है, (मन्त्र २३)।

त्याग की भावना मानव-जीवन को पवित्र बनाती है। अतः वेद का उपदेश है कि त्यागभाव से संसार को भोगो और दूसरे की सम्पत्ति की कामना न करो, (मन्त्र ३)। उन्नति के लिए आवश्यक है कि शुभ विचारों और सद्गुणों को सभी ओर से अपनावें। शुभ विचार जीवन को पवित्र और उत्कृष्ट बनाते हैं, (मन्त्र १३)। शुभ कर्म श्रीवृद्धि के साधन हैं। दान, परोपकार, सद्व्यवहार निरर्थक नहीं जाते हैं। ये मनुष्य और समाज को सदा उत्कर्ष की ओर ले जाते हैं, (मन्त्र १८)। शुभ कर्मों से ही मनुष्य समाज में आदर पाता है। समाज का नेतृत्व भी सत्कर्मशीलों को प्राप्त होता है, (मन्त्र २६)। अतएव मन्त्र में कहा गया है कि हम सदा शुभ वचन सुनें, शुभ वस्तुओं को ही देखें, हृष्ट-पुष्ट रहते हुए सौ वर्ष की दीर्घ आयु प्राप्त करें, (मन्त्र २७)। सदाचार, संयम और नैतिक मूल्यों को अपनाने से ही मनुष्य दीर्घायु होता है। अतएव प्रार्थना की गई है कि दुर्गुणों को छोड़ें और सदा सद्गुणों को अपनावें, (मन्त्र २)।

समाज के अभ्युदय के लिए आवश्यक है कि उसे ज्ञान की ज्योति मिले। इससे ही अमरत्व प्राप्त होता है। समाज की सुस्थिरता ज्ञान की ज्योति पर निर्भर है। अतएव कहा गया है कि–ज्योति मिले और अमर हों। (**अगन्म ज्योतिरमृता अभूम**, मन्त्र २५)

विश्व के प्रति कर्तव्य

समाज का कर्तव्य है कि वह स्वयं उन्नत होकर संसार को उन्नत बनावे। संसार के व्यक्तियों का चरित्र उच्च करके, उन्हें आर्य या श्रेष्ठ बनावे। (**कृण्वन्तो विश्वमार्यम्**, मन्त्र ७)। आत्महित के साथ ही संसार का भी सदा हित-चिन्तन करे, (मन्त्र ५)। समाज और राष्ट्र के हित के साथ ही विश्वहित की कामना भी सदा रहनी चाहिए। (**विश्वभृत स्थ**, मन्त्र ४९)।

त्याज्य कर्म

समाज का कर्तव्य है कि वह सुखी रखने के लिए सर्वप्रथम दुर्गुणों का परित्याग करे। (**दुरितानि परा सुव**, मन्त्र २)। ऋग्वेद का कथन है कि कायरता, दुर्बुद्धि, पर-छिद्रान्वेषण और ईर्ष्या-द्वेष के भावों से मुक्त हों, (मन्त्र ८५)। पाप, पाप-भावना और निन्दा की प्रवृत्ति से दूर हों, (मन्त्र ८८)। कोई कटुवचन भी कहता है तो उससे कटुवचन न बोलें, अपितु नम्रतापूर्वक बोलें, (मन्त्र ८७)। जीवन में कभी भी ऋणी न रहें और दुर्वचन न बोलें। (**न दुरुक्ताय स्पृहयेत्**, मन्त्र ८६)। कटुवचन से ईर्ष्या, द्वेष आदि भाव जागृत होते हैं, अतः यह त्याज्य है। पर-धन का लोभ भी निन्दित कर्म है, अतः त्याज्य है। (**मा गृधः कस्यस्विद् धनम्**, मन्त्र ३)। दान न देने की भावना अत्यन्त घृणित है, अतः उसका त्याग करना चाहिए। समाज के लिए अदाता अराति (शत्रु) है, अतः उसका नाश करना चाहिए। (**अपघ्नन्तो अराव्णः**, मन्त्र ७)। ऋग्वेद और अथर्ववेद में सात कर्मों को सर्वथा त्याज्य बताया है। इनमें से एक भी कर्म को करने वाला पापी होता है। ये हैं:—१. चोरी, २. व्यभिचार, ३. ब्रह्महत्या, ४. मद्यपान, ५. बार-बार कुकर्म करना, ६. गर्भपात, ७. पाप करके झूठ बोलना। ये कर्म सदा त्याज्य हैं। (**सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुः**, मन्त्र ९८)।

———

संकेत-सूची

१ —एकवचन
२ —द्विवचन
३ —बहुवचन
अथर्व० —अथर्ववेद संहिता
अदादि० —अदादिगण
आशी० —आशीर्लिङ्
Inj. —Injunctive
उणादि० —उणादि सूत्र
उ०, उ० पु०—उत्तम पुरुष
उप० —उपनिषद्
ऋग्० —ऋग्वेद संहिता
ऐत० —ऐतरेय ब्राह्मण
क्र्यादि० —क्र्यादिगण
गोपथ पू० —गोपथ ब्राह्मण पूर्वभाग
गोपथ उ० —गोपथ ब्राह्मण उत्तरभाग
च० —चतुर्थी विभक्ति
चुरादि० —चुरादिगण
जुहोत्यादि० —जुहोत्यादिगण
तनादि० —तनादिगण
ता०, तां० —तांड्य ब्राह्मण
तुदादि० —तुदादिगण
तृ० —तृतीया विभक्ति
तैत्ति० —तैत्तिरीय ब्राह्मण
दिवादि० —दिवादिगण
द्वि० —द्वितीया विभक्ति
नपुं० —नपुंसक लिंग
पं० —पंचमी विभक्ति
पा० —पाणिनीय अष्टाध्यायी
पुं० —पुंलिंग
पु० —पुरुष
प्र०, प्र० पु०—प्रथम पुरुष, प्रथमा
प्रथमा —प्रथमा विभक्ति
ब्रा० —ब्राह्मण
भ्वादि० —भ्वादिगण
म०, म० पु०—मध्यम पुरुष
यजु० —यजुर्वेद संहिता
रुधादि० —रुधादिगण
विधि० —विधिलिङ्
शत० —शतपथ ब्राह्मण
ष० —षष्ठी विभक्ति
सं० —संबोधन
स० —सप्तमी विभक्ति
साम० —सामवेद संहिता
Sub. —Subjunctive
स्त्री० —स्त्रीलिंग
स्वादि० —स्वादिगण

———०———

सुखी समाज

विषयानुक्रमणी

मन्त्रानुक्रमणिका

ओम्

वेदामृतम्

भाग ४

सुखी समाज

१. बुद्धि सन्मार्ग पर चले (गायत्री मन्त्र)

ओं भूर्भुवः स्व। तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

यजु० ३६-३; ३-३५; २२-९; ३०-२; ऋग्० ३-६२-१०; साम० १४६२;
तैत्ति० सं० १-५-६-४; ४-१-११-१; तैत्ति० आर० १-११-२

अन्वय—ओं भूः भुवः स्वः। सवितुः देवस्य तत् वरेण्यं भर्गः धीमहि। यः नः धियः प्रचोदयात्।

शब्दार्थ—(ओम्) रक्षक परमात्मन्, (भूः) सत्-स्वरूप, (भुवः) चित्-स्वरूप, (स्वः) आनन्द-स्वरूप, (सवितुः) संसार के उत्पादक, (देवस्य) दिव्यगुणयुक्त परमात्मा के, (तत्) उस, (वरेण्यम्) सर्वश्रेष्ठ, (भर्गः) तेज को, (धीमहि) धारण करते हैं। (यः) जो परमात्मा, (नः) हमारी, (धियः) बुद्धियों को, (प्रचोदयात्) सत्कर्मों में प्रेरित करे।

हिन्दी अर्थ—सच्चिदानन्द-स्वरूप, संसार के उत्पादक, देव परमात्मा के उस सर्वोत्कृष्ट तेज को हम धारण करते हैं। वह परमात्मा हमारी बुद्धियों को सत्कर्मों में प्रेरित करे।

Eng. Tr.—O Supreme Lord! thou art the source of existence, intelligence and bliss, creator of the universe. We cherish thy luminous lustre. Vouchsafe an un-erring guidance to our intellects.

अनुशीलन—मानव-जीवन को सुखी बनाने के लिए दो बातों की सबसे अधिक आवश्यकता है—आस्तिकता और बुद्धि की शुद्धता। ये दोनों कार्य गायत्री मन्त्र से सिद्ध होते हैं। गायत्री का अर्थ है—गय और गाय का अर्थ है—प्राण। प्राणा वै गयाः (शतपथ ब्रा० १४–८–१५–७)। गयाः प्राणाः, गयाः एव गायाः, तान् त्रायते इति गायत्री। गाय अर्थात् प्राणों की रक्षा करने वाले को गायत्री कहते हैं। गायत्री के जप से प्राणशक्ति की वृद्धि होती है और शारीरिक तथा बौद्धिक न्यूनता दूर होती है। गायत्री को सावित्री भी कहते हैं। सविता अर्थात् सूर्य या ब्रह्म से संबद्ध होने से यह सावित्री मन्त्र है। इसके द्वारा शरीर में सौर शक्ति की उत्पत्ति होती है।

गायत्री ही ब्रह्मवर्चस् या ब्रह्मतेज है। गायत्री ब्रह्मवर्चसम् (तैत्तिरीय ब्रा० २–७–३–३), तेजो ब्रह्मवर्चसं गायत्री (कौषीतकि ब्राह्मण १७–२)। गायत्री के नियमित जप से ब्रह्मवर्चस् प्राप्त होता है। इस ब्रह्मवर्चस् से ही मनुष्य संयमी, जितेन्द्रिय और मनोनिग्रही होता है। अतः एव तांड्य ब्राह्मण में कहा है—वीर्यं वै गायत्री (तां० ७–३–१३)।

गायत्री मंत्र के तीन भाग हैं—(क) महाव्याहृति—ओं भूर्भुवः स्वः। इसमें परमात्मा के स्वरूप का वर्णन है कि वह सत्, चित् और आनन्दरूप है। उसके आनन्द की प्राप्ति ही मनुष्य-जीवन का लक्ष्य है। (ख) तत्............धीमहि। उस आनन्द की प्राप्ति के लिए परमात्मा के तेज या ज्योति को हृदय में धारण करना होगा। परमात्मारूपी दिव्य रत्न को हृदय में रखे विना ज्ञान की शक्ति ही उद्बुद्ध नहीं होगी। बुद्धि की शुद्धि के लिए आस्तिकता, ईश्वर-विश्वास और ईश्वर की सर्वव्यापकता का ज्ञान चाहिए। मंत्र का द्वितीय भाग आस्तिकता और आत्मिक शक्ति को उत्पन्न करता है। (ग) मन्त्र का तृतीय भाग— धियो ....प्रचोदयात्, गायत्री-मन्त्र के जप का फल बताता है। ईश्वररूपी मणि को हृदय में धारण करने से उसका प्रकाश बुद्धि को शुद्ध करता है। बुद्धि स्वयं सन्मार्ग पर चलने लगती है। वह अकर्तव्य का परित्याग करके कर्तव्य मार्ग को ही ग्रहण करती है। इस प्रकार मनुष्य का जीवन सुख की ओर अग्रसर होता है।

टिप्पणी—(१) **ओम्**—अवतीति ओम्, रक्षा करने वाला। रक्षा अर्थ वाली अव् धातु से मनिन् (मन्) प्रत्यय, अवतेष्टिलोपश्च (उणादि० १-१४२) से मन् के अन् का लोप, ज्वरत्वर० (पा० ६--४--२०) से अव् को ऊठ् (ऊ), गुण। अव् + मन् (म्) = ओम्। (२) **भूर्भुवः स्वः**—भूः, भुवः, स्वः ये तीन ईश्वर के गुण-बोधक महाव्याहृतियाँ हैं। भूः—सत्, सत्ता; भुवः—चित्, ज्ञान, चेतना; स्वः--आनन्द, इन तीन गुणों से युक्त परमात्मा सच्चिदानन्द है। (३) **सवितुः**—सू (जन्म देना, प्रेरणा देना) + तृच् (तृ) = सवितृ + षष्ठी १। (४) **वरेण्यम्**—वरणीय, सर्वश्रेष्ठ, अत्युत्तम, सर्वोत्कृष्ट। वृ + एन्य। (५) **भर्गः**—तेज। भृज् + घञ् (अ)। भृजी भर्जने, पापों को नष्ट करता है। यहाँ भर्गस् नपुंसक लिंग शब्द है। भर्ग का अर्थ वीर्य है। 'वीर्यं वै भर्गः' (शतपथ ब्रा० ५–४--५–१)। (६) **धीमहि**—धारण करते हैं। धा + लुङ् आत्मनेपद + उ० पु० ३। अडागम-रहित लुङ्, Injunctive, है। अधिकांश भाष्यकारों ने धीमहि का अनुवाद—ध्यायामः, चिन्तयामः, ध्यान करते हैं, किया है। 'ध्यै चिन्तायाम्' धातु में छान्दस संप्रसारण माना है। धा धातु का रूप मानना अधिक उचित है। (७) **प्रचोदयात्**—प्र + चुद् + णिच् + लेट् प्र० पु० १। चुरादिगणी 'चुद् संचोदने' से। प्रेरित करे। विधिलिङ् में प्रचोदयेत् होगा। (८) छन्द की पूर्ति के लिए वरेण्यम् को 'वरेणिअम्' पढ़ा जाता है।

२. सद्गुणों को अपनावें

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद् भद्रं तन्न आ सुव॥

ऋग्० ५-८२-५; यजु० ३०-३;
तैत्ति० ब्रा० २-४-६-३; तैत्ति० आर० १०-१०-२

अन्वय—हे सवितः देव, विश्वानि दुरितानि परा सुव। यत् भद्रं तत् नः आ सुव।

शब्दार्थ—(हे सवितः देव) हे संसार के उत्पादक देव, (विश्वानि) सारे,

(दुरितानि) दुर्गुणों को, (परा सुव) दूर हटावो । (यत्) जो, (भद्रम्) शुभ, कल्याणकारी हो, (तत्) वह, (नः) हमें, (आ सुव) दीजिए, प्रेरित कीजिए ।

हिन्दी अर्थ—हे संसार के उत्पादक देव ! आप हमारे सारे दुर्गुणों को दूर कीजिए और जो कल्याणकारी गुण हों, उन्हें हमें दीजिए (उनको हमारे अन्दर प्रेरित कीजिए ।

Eng. Tr.—O All-creating God ! please keep far from us all evils and let us attain what-ever be beneficial to us.

अनुशीलन—इस मन्त्र में संस्कृति का लक्षण बताया गया है । संस्कृति क्या है ? संस्कार, परिष्कार और संशोधन को संस्कृति कहते हैं । कृषि (Agriculture) से संस्कृति (Culture) को समझा जा सकता है । कृषि में अनावश्क घास-फूंस को खोदकर निकाला जाता है और उपयोगी बीजों को बोया जाता है तथा उन्हें खाद-पानी आदि देकर पुष्ट किया जाता है । इसी प्रकार संस्कृति में अवांछनीय तत्त्वों, दुर्गुण, दोष आदि, को हटाया जाता है और उनके स्थान पर सद्गुणों को प्रतिष्ठित किया जाता है । यह कार्य ही संस्कृति है । दुर्गुण-निवारण और सद्गुण-संस्थापन संस्कृति है । अतएव मंत्र में कहा गया है कि दुर्गुणों, दुर्विचारों, दुःखदायी तत्त्वों को दूर कीजिए और जो भी शुभ तत्त्व, शुभ-विचार, सद्गुण आदि हैं, उन्हें हमें दीजिए । यह संस्कृति का क्रम जीवन भर चलता रहता है । इसके द्वारा ही मनुष्य पापों और दुर्विचारों से बचता है और सद्गुणों में प्रवृत्त होता है । सद्गुणों में यह प्रवृत्ति जब बद्धमूल हो जाती है, तब दुर्भावना आदि का क्षय हो जाता है और सद्गुण ही निरन्तर स्थान पाते हैं । तभी मानव-जीवन देवत्व को ओर अग्रसर होता है ।

टिप्पणी—(१) **सवितः**—संसार के उत्पादक या प्रेरक । सू (उत्पन्न करना, प्रेरणा देना) + तृच् (तृ) संबोधन । (२) **दुरितानि**—दुर्गुण । दुरित—दुर् + इ (जाना) + क्त (त) । (३) **परा सुव**—हटाओ, दूर करो । सू (प्रेरणा देना, जन्म

देना, तुदादि) + लोट् म० १। (४) नः—हमको। (५) आ सुव—दो, प्रेरित करो। सू + लोट् म० १।

३. त्याग-भाव से संसार को भोगो

ईशा वास्यमिद ँ सर्वं यत् किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥

यजु० ४०-१

अन्वय—इदं सर्वं यत् किं च जगत्यां जगत् ईशा वास्यम्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः, कस्यस्विद् धनं मा गृधः।

शब्दार्थ—(इदं सर्वम्) यह सब, (यत् किं च) जो कुछ, (जगत्याम्) गतिशील पृथ्वी में, (जगत्) गतिशील, चर प्राणिमात्र है, वह, (ईशा) परमात्मा से, (वास्यम्) आच्छादित, व्याप्त है। (तेन) उस परमात्मा के द्वारा, (त्यक्तेन) त्याग किए हुए जगत् को, त्याग की भावना से, (भुञ्जीथाः) भोग करो। (कस्य स्विद्) किसी के, (धनम्) धन को, (मा गृधः) मत चाहो, लालच की भावना से मत चाहो।

हिन्दी अर्थ—इस गतिशील संसार में जो कुछ भी गतिशील या चरात्मक है, वह सब कुछ परमात्मा से व्याप्त है। उस परमात्मा के द्वारा दिए हुए जगत् को त्याग भाव से भोगो। किसी के धन को लालच की भावना से मत चाहो।

Eng. Tr.—Whatever movable entity has its being in the universe of motion is environed by the Supreme Ruler. Look at the material world with the feeling of renunciation and lust not after anyones riches.

अनुशीलन—जीवन को सुखी बनाने के लिए आस्तिकता की आधारशिला अत्यावश्यक है। जिस प्रकार नींव या आधार के बिना भवन की सुस्थिरता की

कल्पना नहीं की जा सकती है, उसी प्रकार आस्तिकतारूपी नींव के बिना सुखी जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। परमात्मा सर्वव्यापक है। सृष्टि के प्रत्येक कण में वह विद्यमान है। उसकी सत्ता का अनुभव करना सबसे बड़ी योग्यता है। पाप अज्ञात या गुप्त स्थानों में किया जाता है। परमात्मा की सर्वव्यापकता मान लेने पर ऐसा कोई स्थान नहीं मिल सकता है, जहाँ परमात्मा न हो। उससे छिपा कर कोई पाप नहीं किया जा सकता है। अतः आस्तिक व्यक्ति विवश होकर पापों से विरत हो जाता है। यही उन्नति और उत्थान की प्रथम सीढ़ी है। मंत्र में जीवन को सुखी बनाने के लिए दूसरा साधन बताया गया है—त्याग की भावना। संसार की प्रत्येक वस्तु को निःस्वार्थ भाव से भोगना तथा आसक्ति को छोड़ना। मनुष्य को अपने कर्मों और पुरुषार्थ के द्वारा जो सुख-सुविधा प्राप्त हुई हैं, उससे उसे सन्तुष्ट रहना चाहिए। अतएव कहा गया है कि—'सन्तोष एव पुरुषस्य परं निधानम्' सन्तोष ही सबसे बड़ा धन है। धन और ऐश्वर्य में आसक्ति मानवीय दुःखों का कारण है, अतः आसक्ति को छोड़कर त्याग की भावना से ही सांसारिक भोगों को भोगना चाहिए। मंत्र का अन्तिम चरण आदेश देता है कि—लोभ को छोड़ दो, पराई संपत्ति पर कुदृष्टि न डालो, पराए धन की लिप्सा न करो। स्वोपार्जित और पुरुषार्थ-लब्ध धन अपना है। उसका भोग करें। उसी में सुख है, शान्ति है और मानसिक आनन्द है।

टिप्पणी—(१) **ईशा**—ईश्वर से। ईशा—ईश् (स्वामी होना, अदादि) + क्विप् (०) + तृ० १। (२) **वास्यम्**—व्याप्त, आच्छादित। वस् (आच्छादित करना, अदादि) + ण्यत् (य)। (३) **त्यक्तेन**—उस परमात्मा के द्वारा परित्यक्त या प्रदत्त संसार से। स्व-स्वामिभाव संबन्ध को छोड़कर या त्याग की भावना से। त्यज् + क्त (त) = त्यक्त। (४) **भुञ्जीथाः**—भुज् (भोग करना, रुधादि) + विधिलिङ् + म० १। (५) **मा गृधः**—लालच मत करो। गृध् (लालच करना, दिवादि) + लुङ् + म० १। मा के कारण अडागम का अभाव। (६) **कस्यस्वित्**—किसी का।

४. राष्ट्रीय प्रार्थना

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्,
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां,
दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वान् आशुः सप्तिः,
पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः,
सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां
निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु,
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां,
योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

यजु० २२-२२

अन्वय—हे ब्रह्मन्, राष्ट्रे ब्राह्मणः ब्रह्मवर्चसी आ जायताम्। राजन्यः शूरः इषव्यः अतिव्याधी महारथः आ जायताम्। धेनुः दोग्ध्री, अनड्वान् वोढा, सप्तिः आशुः, योषा पुरन्धिः, रथेष्ठाः जिष्णुः, अस्य यजमानस्य युवा वीरः सभेयः आ जायताम्। नः निकामे निकामे पर्जन्यः वर्षतु। नः ओषधयः फलवत्यः पच्यन्ताम्। नः योगक्षेमः कल्पताम्।

शब्दार्थ—(हे ब्रह्मन्) हे परमात्मन्, (राष्ट्रे) हमारे राष्ट्र में, (ब्राह्मणः) ब्राह्मण, (ब्रह्मवर्चसी) ब्रह्मवर्चस् या वेद-ज्ञान के तेज से युक्त, (आजायताम्) उत्पन्न हो। (राजन्यः) क्षत्रिय, (शूरः) वीर, (इषव्यः) बाण चलाने में दक्ष, धनुर्धर, (अतिव्याधी) आर-पार बींधने वाला, शत्रुभेदी, (महारथः) महारथी, एक सहस्र योधाओं को जीतने वाला, (आ जायताम्) हो। (धेनुः) गाय, (दोग्ध्री) दूध देने वाली हो। (अनड्वान्) बैल, (वोढा) भार ढोने में समर्थ हो। (सप्तिः) घोड़ा, (आशुः) शीघ्रगामी हो। (योषा) स्त्री, (पुरन्धिः) कुटुम्ब का पालन करने वाली, रूपवती या ऐश्वर्यसंपन्न हो। (रथेष्ठाः) रथी या योद्धा सैनिक, (जिष्णुः) विजयशील, विजयी हो। (अस्य यजमानस्य) इस यजमान का, (युवा) युवा पुत्र, (वीरः) वीर, शूर, (सभेयः) सभ्य, शिष्ट, (आ जायताम्) हो। (नः) हमारी, (निकामे निकामे) विशिष्ट प्रार्थनाओं पर, (पर्जन्यः) बादल, (वर्षतु) बरसे। (नः)

हमारी, (ओषधयः) ओषधियां, जौ गेहूँ आदि धान्य, कृषि, (फलवत्यः) फलों से युक्त, धान्ययुक्त, (पच्यन्ताम्) पकें। (नः) हमारे लिए, (योगक्षेमः) योग-क्षेम, धनप्राप्ति और धन-सुरक्षा, (कल्पताम्) होवे।

हिन्दी अर्थ—हे परमात्मन्! हमारे राष्ट्र में ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस् से युक्त हों। क्षत्रिय शूर, धनुर्धर, शत्रुनाशक और महारथी हों। गायें अधिक दूध देने वाली हों। बैल भारवहन में समर्थ हों। घोड़े तीव्रगामी हों। स्त्रियां कुटुम्ब-भरण में दक्ष हों। रथी सैनिक विजयी हों। इस यजमान का युवा पुत्र वीर और सभ्य हो। हमारी विशिष्ट प्रार्थनाओं पर मेघ बरसें। ओषधियां (कृषि, वनस्पतियां) फलवती होकर पकें। हमारे लिए योग-क्षेम हो।

Eng. Tr.—O Supreme Being! let there be born in our nation, the Brahmana possessing spiritual splendour; the Kshatriya brave, skilled in archery, mighty warrior and destroyer of the enemy; let there be born the cow giving abundant milk; the ox carrier of heavy loads; the horse of high speed; the woman skilled in domestic affairs; the charioteer be victorious. The son of this devotee, while he attains his youth, be heroic and highly cultured. May the clouds rain on the required occasions. May the fruits-bearing trees bear ripe fruits in abundance and may the power of acquisition and preservation of wealth ever remain in us.

अनुशीलन—यह मंत्र राष्ट्रीय प्रार्थना है। इसमें राष्ट्र के अभ्युदय के लिए अपेक्षित सभी तत्त्वों का समावेश किया गया है। राष्ट्र के अभ्युदय के लिए निम्नलिखित तत्त्वों की विशेष आवश्यकता है—१. चारों वर्णों की श्रीवृद्धि हो, २. स्त्रियों की उन्नति हो, ३. पशुधन हो, ४. समाज का युवावर्ग शिष्ट, सभ्य और वीर हो, ५. समय पर वर्षा हो, ६. धन-धान्य की समृद्धि हो, ७ राष्ट्र में योगक्षेम हो।

यद्यपि मंत्र में ब्राह्मण और क्षत्रिय का ही उल्लेख है, परन्तु यह चारों वर्णों का प्रतीक है। ब्राह्मण विद्वान्, तेजस्वी और सच्चरित्र हों। क्षत्रिय शूर, धनुर्धर, महारथी और विजयी हों। पशुधन हृष्ट-पुष्ट हो। गायें अधिक दूध दें, बैल बोझ ढोने में सशक्त हों, घोड़े तीव्रगामी हों। स्त्रियां उन्नत हों और अत्यन्त कुशलता से परिवार का भार उठा सकें। युवकवर्ग शिष्ट, सभ्य और वीर हो। युवक भविष्य के निर्माता हैं। वे जिस दिशा में चलेंगे, उसी दिशा में राष्ट्र भी चलेगा। युवकों में शिष्टता, सभ्यता और शौर्य गुण होना अनिवार्य है। कृषि की उन्नति के लिए ठीक समय पर वर्षा की आवश्यकता है। वर्षा ठीक समय पर होगी तो अनाज भी उत्तम होगा। वृक्ष-वनस्पतियाँ, जो राष्ट्र की बहुमूल्य संपत्ति हैं, वर्षा से सुचारु रूप से विकसित होंगी। इस प्रकार राष्ट्र में योग-क्षेम होगा।

राष्ट्रीय योग-क्षेम के लिए आवश्यक है कि राजा अपने कर्तव्य में सतत जागरूक हों। सेना सुरक्षा में समर्थ हो। ब्राह्मण योग्य, विद्वान्, त्यागी तपस्वी और उच्च चरित्र वाले हों। तभी राष्ट्र में योगक्षेम होता है, तभी राष्ट्र में ज्ञान और विज्ञान की प्रगति होती है। अतः ठीक ही कहा गया है कि—

शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे, शास्त्रचिन्ता प्रवर्तते।

टिप्पणी—(१) **ब्रह्मन्**—हे ब्रह्मन्, हे परमात्मन्। (२) **ब्रह्मवर्चसी**—ब्रह्मवर्चस् या ब्रह्मतेज से युक्त। यज्ञ, अध्ययन एवं तप से होने वाले तेज को ब्रह्मवर्चस् कहते हैं। ब्रह्मवर्चस् से अ प्रत्यय होकर ब्रह्मवर्चस शब्द बनता है। उससे मत्वर्थ में इन्। ब्रह्मवर्चस + इन् = ब्रह्मवर्चसिन् + प्र० १। (३) **आ जायताम्**—उत्पन्न हों, होवें। आ + जन् (पैदा होना, दिवादि, आ०) + लोट् प्र० १। जन् को जा आदेश। (४) **राष्ट्रे**—राष्ट्र में, देश में। राष्ट्रे का संबन्ध प्रत्येक वाक्य से है। (५) **राजन्यः**—क्षत्रिय। राजन् + य। (६) **इषव्यः**—इषु अर्थात् बाण चलाने में दक्ष, धनुर्धर। इषु + य। (७) **अतिव्याधी**—अति—दूर तक या आरपार, व्याधी—बींधने वाला। दूर तक शत्रुओं को मारने वाला। अति + व्यध् (बींधना, दिवादि) + णिनि (इन्) = अतिव्याधिन् + प्र० १। (८) **महारथः**—महारथी, बड़े रथ वाला। एक हजार शत्रुओं को जीतने वाला महारथी होता था। (९) **दोग्ध्री** - अधिक दूध देने वाली। दुह् (दूध देना, अदादि) +

तृच् (तृ) + ङीप् (ई) + प्र० १ । (१०) **वोढा**—भार ढोने वाला । वह् (ढोना, भ्वादि) + तृ = वोढृ + प्र० १ । वह् को वो होता है । (११) **अनड्वान्**—बैल । अनस् (गाड़ी) + वह् (ढोना) से अनडुह् शब्द बनता है । प्र० १ का रूप है । (१२) **आशुः**—तीव्रगामी । सप्तिः—घोड़ा । (१३) **पुरन्धिः**—पुर अर्थात् परिवार या कुटुम्ब को, धिः—धारण करने वाली । पुरन्धि के अन्य अर्थ हैं—रूपवती, शरीर को संभाल कर रखने वाली, पुर अर्थात् धन या पूर्णता को धारण करने वाली । (१४) **योषा**—स्त्री, युवती । योषन् + प्र० १ । (१५) **जिष्णुः**—विजयी, विजयशील । जि + स्नु = जिष्णु । (१६) **रथेष्ठाः**—रथी, रथ पर बैठा हुआ । रथे + स्था = रथेष्ठा + प्र० १ । सप्तमी का अलुक् । (१७) **सभेयः**—सभ्य, शिष्ट, सभा आदि में बैठने के योग्य । सभा + ढ–एय = सभेय । (१८) **युवा**—युवक, नवयुवक । युवन् + प्र० १ । (१९) **निकामे०**—नि–निश्चयपूर्वक, विशिष्ट, कामे–कामना या प्रार्थना होने पर । बार बार अर्थ में द्विरुक्ति है । (२०) **वर्षतु**—बरसे । वृष् (बरसना, भ्वादि, पर०) + लोट् प्र० १ । (२१) **फलवत्यः**—फल वाली, धान्य की समृद्धि से युक्त । फल + मत् + ङीप् (ई) + प्र० ३ । म् को व् । (२२) **ओषधयः**—वनस्पतियाँ, धान्य आदि । 'ओषधयः फलपाकान्ताः' जिनके दाने आदि पक जाते हैं । ओषधि में वनस्पतियाँ और गेहूँ आदि कृषिजन्य पदार्थ भी आते हैं । (२३) **पच्यन्ताम्**—पकें । पच् (पकना, भ्वादि) + कर्मकर्ता में य + लोट् प्र० १ । (२४) **योगक्षेमः**—कुशलता । अप्राप्त की प्राप्ति को योग कहते हैं और प्राप्त की सुरक्षा को क्षेम कहते हैं । (२५) **कल्पताम्**—होवे । क्लृप्–कल्प् (होना, भ्वादि, आ०) + लोट् प्र० १ ।

५. सारे संसार का कल्याण हो

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु,
स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः ।
विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु,
ज्योगेव दृशेम सूर्यम् ॥

अथर्व० १–३१–४

अन्वय—नः मात्रे उत पित्रे स्वस्ति अस्तु । गोभ्यः जगते पुरुषेभ्यः स्वस्ति । नः विश्वं सुभूतं सुविदत्रम् अस्तु । ज्योक् एव सूर्यं दृशेम ।

शब्दार्थ—(नः) हमारे, (मात्रे) माता के लिए, (उत) और, (पित्रे) पिता के लिए, (स्वस्ति अस्तु) कल्याण हो । (गोभ्यः) गायों के लिए, (जगते) संसार भर के लिए, (पुरुषेभ्यः) सभी पुरुषों के लिए, (स्वस्ति) कल्याण हो । (नः) हमारे लिए, (विश्वम्) सभी, (सुभूतम्) ऐश्वर्य, (सुविदत्रम्) उत्तम ज्ञान, (अस्तु) हो । (ज्योक् एव) चिरकाल तक, (सूर्यम्) सूर्य को, (दृशेम) देखें ।

हिन्दी अर्थ—हमारे माता और पिता का कल्याण हो । गायों, समस्त संसार और सभी पुरुषों का कल्याण हो । हमारे लिए सभी ऐश्वर्य और उत्तम ज्ञान हों । हम चिरकाल तक सूर्य को देखें ।

Eng. Tr.—May there be welfare to our parents, the cows, the whole world and all mankind. Let us have all-round prosperity and knowledge. May we see the sun forevre.

अनुशीलन—इस मंत्र में तीन शुभ प्रार्थनाएं हैं :—१. माता, पिता, गाय और समस्त जगत् का कल्याण हो । २. हमें समस्त ऐश्वर्य और ज्ञान प्राप्त हो । ३. दीर्घायु हों और चिरकाल तक सूर्य को देखते रहें ।

संसार में माता-पिता से बढ़कर और कोई शुभचिन्तक नहीं है । माता-पिता की सदा कामना रहती है कि उनकी सन्तान सभी सद्गुणों में उनसे बढ़कर हो । अतएव कहा गया है कि—'**सर्वत्र विजयं कांक्षेत्, पुत्रादिच्छेत् पराभवम् ।**' मनुष्य सर्वत्र विजय ही चाहे, परन्तु ज्ञान और गुणों में अपने पुत्र से पराजय चाहे । इससे माता-पिता की हार्दिक कामना प्रकट होती है । इसका ही फल होता है—संतान की श्रीवृद्धि । माता-पिता की सेवा से पुत्र के आयु, विद्या, यश और बल बढ़ते हैं ।

माता-पिता के कल्याण के साथ ही विश्व-कल्याण और विश्वबन्धुत्व का भाव जागृत करना चाहिए । इसका शुभ परिणाम यह होगा कि मनुष्य को ज्ञान और

ऐश्वर्य की प्राप्ति होगी । ज्ञान का फल है—ऋत का पालन, कर्तव्यों और स्वास्थ्य के नियमों का पालन । स्वास्थ्य के नियमों के पालन से मनुष्य शतायु होता है ।

टिप्पणी—(१) **स्वस्ति**—कल्याण, शुभ, मंगल । सु—अच्छा, अस्ति—होवे । (२) **मात्रे**—माता के लिए । मातृ + च० १ । (३) **पित्रे**—पिता के लिए। पितृ + च० १ । (४) **जगते**—सारे संसार के लिए । जगत् + च० १ । (५) **सुभूतम्**—ऐश्वर्य, समृद्धि । (६) **सुविदत्रम्**—उत्तम ज्ञान, उत्तम विद्या, उत्तम ज्ञानवान् । 'सुविदत्रः कल्याणविद्यः' (निरुक्त ६—१४) । सु—उत्तम, विदत्र—ज्ञान या ज्ञानी । (७) **ज्योक्**—चिरकाल तक, देर तक । अव्यय है । (८) **दृशेम**—देखें । दृश् (देखना, भ्वादि पर०) + विधिलिङ् उ० ३ । दृश् को पश्य् नहीं हुआ है । दृशेम = पश्येम ।

६. ईश्वर ही सबका रक्षक है

यच्चिद्धि त्वा जना इमे, नाना हवन्त ऊतये ।
अस्माकं ब्रह्मेदमिन्द्र भूतु ते, ऽहा विश्वा च वर्धनम् ।।

ऋग्० ८-१-३; अथर्व० २०-८५-३

अन्वय—यत् चित् हि त्वा इमे जनाः नाना ऊतये हवन्ते । हे इन्द्र, अस्माकम् इदं ब्रह्म ते विश्वा अहा च वर्धनं भूतु ।

शब्दार्थ—(यत् चित्हि) जब-कभी, आवश्यकतानुसार, (त्वा) तुझको, (इमे) ये, (जनाः) लोग, (नाना) नाना प्रकार से, (ऊतये) रक्षा के लिए, (हवन्ते) पुकारते हैं । (हे इन्द्र) हे इन्द्र, हे परमात्मन्, (अस्माकम्) हमारी, (इदं ब्रह्म) यह प्रार्थना, यह स्तुति, (ते) तेरे लिए, (विश्वा अहा च) सभी दिन, सदा, (वर्धनम्) वर्धक, पोषक, (भूतु) होवे ।

हिन्दी अर्थ—आवश्यकतानुसार ये सभी लोग अपनी रक्षा के लिए नाना प्रकार से तुझे पुकारते हैं । हे इन्द्र ! हमारी यह प्रार्थना (स्तुति) सदा तुम्हारी वृद्धि के लिए हो ।

Eng. Tr.—O Lord Indra ! all mankind at the time of emergency, invoke you variously for their safety. Let our prayers glorify you.

अनुशीलन—इस मंत्र में शिक्षा दी गई है कि परमात्मा ही संसार में सबसे बड़ा रक्षक है। विपत्ति में सभी अपनी रक्षा के लिए उसको ही पुकारते हैं।

इस संसार-चक्र का प्रवर्तक ईश्वर है। वही संसार के कण-कण में व्याप्त है। वही कर्ता, धर्ता और संहर्ता है। उसने संसार में ऋत और सत्य नाम की दो शक्तियां उत्पन्न कर दी हैं, जिनसे संसार का नियन्त्रण होता है। इन शक्तियों के द्वारा सभी को अपने कर्मों का फल मिलता है। कोई उस कर्मफल से बच नहीं सकता है। यजुर्वेद में ईश्वर की सर्वव्यापकता का मुख्य रूप से वर्णन है कि वह संसार में सर्वत्र व्याप्त है।

ईशा वास्यमिदं सर्वं, यत् किं च जगत्यां जगत्। यजु० ४०–१

गीता में भी इसी भाव को प्रकट किया गया है कि परमात्मा सबके हृदय में है। वही सबको चलाता है, यदि शान्ति चाहते हो तो उसी की शरण में जाओ।

ईश्वरः सर्वभूतानां, हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि, यन्त्रारूढानि मायया ॥ गीता १८-६१
तमेव शरणं गच्छ, सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्ति, स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ गीता १८-६२

हिन्दी का सुभाषित है कि मनुष्य दुःख में परमात्मा को स्मरण करता है, सुख में नहीं। यदि सुख में उसे स्मरण करे तो दुःख ही नहीं होगा।

दुख में सुमिरन सब करें, सुख में करे न कोय।
जो सुख में सुमिरन करे, दुख काहे को होय ॥ कबीर

मंत्र की शिक्षा है कि सुखी रहने के लिए सदा परमात्मा का चिन्तन और ईश्वरोपासना करे। ऐसा करने से जीवन सुखमय होगा।

टिप्पणी—(१) **यत् चित् हि**—जो भी, जब-कभी भी, अर्थात् आवश्यकता पड़ने पर। (२) **नाना**—नाना प्रकार से, अलग-अलग ढंग से। अव्यय है।

(३) **हवन्ते**—पुकारते हैं। ह्व (ह्वे, पुकारना, भ्वादि, आ०)+लट् प्र० ३। (४) ऊतये—रक्षा के लिए। अव् (रक्षा करना) + क्तिन् (ति) से ऊति बना है। ऊति + च० १। (५) **ब्रह्म**—प्रार्थना, स्तुति, स्तोत्र। ब्रह्मन् (प्रार्थना) + प्र० १। (६) **भूतु**—होवे। भू (होना, भ्वादि) + लोट् प्र० १। भवतु के स्थान पर भूतु है। (७) **विश्वा अहा**—सभी दिन, अर्थात् सदा। विश्वानि अहानि का संक्षिप्त रूप है।

७. विश्व को आर्य बनावो

इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः, कृण्वन्तो विश्वमार्यम् ।
अपघ्नन्तो अराव्णः ॥

ऋग्० ९-६३-५

अन्वय—इन्द्रं वर्धन्तः, अप्तुरः, विश्वम् आर्यं कृण्वन्तः, अराव्णः अपघ्नन्तः (भवत)।

शब्दार्थ—(इन्द्रम्) इन्द्र को, ऐश्वर्य को या आस्तिकता को, (वर्धन्तः) बढ़ाते हुए, (अप्तुरः) कर्मठ, कर्मण्य, कर्म में तत्पर, (विश्वम्) सभी को, संसार को, (आर्यम्) श्रेष्ठ, उत्कृष्ट, आर्य, (कृण्वन्तः) करते हुए, बनाते हुए, (अराव्णः) अदाता को, कंजूस को, (अपघ्नन्तः) नष्ट करते हुए, (भवत) होवो, रहो।

हिन्दी अर्थ—तुम सब आस्तिकता (या ऐश्वर्य) को बढ़ाते हुए, कर्मठ, संसार को आर्य बनाते हुए, कृपणों को नष्ट करते हुए रहो।

Eng. Tr.—May all of you increase righteousness, make the whole world noble and destory the misers.

अनुशीलन—इस मंत्र में शिक्षा दी गई है कि संसार भर को आर्य बनाओ। इसके लिए कुछ आवश्यक तत्त्व भी बताए गए हैं, जिनके पालन से आर्यत्व का प्रचार हो सकता है। ये तत्त्व हैं—१. आस्तिकता का प्रचार, २. कर्मठता, ३. स्वार्थी तत्त्वों का विनाश।

संसार में सभी की कामना रहती है कि श्रेष्ठ बनें। आर्य किन गुणों से बनता

है ? इसके लिए बताया गया है कि जो मर्यादा का पालन करता है, सत्कर्मों को करता है और दुर्गुणों को छोड़ता है, वह आर्य है ।

कर्तव्यमाचरन् कर्म, अकर्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्रकृताचारे, यः स आर्य इति स्मृतः ।। वसिष्ठ स्मृति

चाणक्य का भी कथन है कि आर्यवृत्त अर्थात् आर्यों के चरित्र का अनुसरण करे ।

आर्यवृत्तम् अनुतिष्ठेत् । चा० सूत्र ३१०

आर्यत्व के प्रचार के लिए आवश्यक है कि जन-साधारण में आस्तिकता की भावना उत्पन्न की जाए । जब तक मनुष्य के हृदय में आस्तिकता नहीं होगी, तब तक वह पापों से नहीं डरेगा । पापों का मूल है—आस्तिकता का अभाव । अतः लोगों में ईश्वर के प्रति अनुराग और निष्ठा उत्पन्न करनी होगी ।

आर्यत्व के लिए दूसरा कर्तव्य है—कर्मठता, कर्मनिष्ठा या कार्यसंलग्नता । कर्मठता या उद्योग ही किसी समाज या राष्ट्र को आगे बढ़ाता है । कर्तव्यनिष्ठा जागरूक समाज का सर्वोत्तम लक्षण है ।

मन्त्र में तीसरी बात कही गई है कि आर्यत्व के प्रसार के लिए स्वार्थी तत्त्वों को नष्ट करना आवश्यक है । इन स्वार्थी तत्त्वों को अरावन् अर्थात् अदाता कहा गया है । स्वार्थभावना समाजहित और राष्ट्रहित को नष्ट कर देती है । अतः मंत्र की शिक्षा है कि स्वार्थी तत्त्वों को सर्वथा नष्ट करें ।

टिप्पणी—(१) **इन्द्रम्**—आस्तिकता को या ऐश्वर्य को । (२) **वर्धन्तः**—बढ़ाते हुए । वृध् (बढ़ना, भ्वादि, पर०) + शतृ प्र० ३ । यहाँ णिच् अर्थात् प्रेरणा का अर्थ लुप्त है । वर्धयन्तः अर्थ है । (३) **अप्तुरः**—कर्मठ, काम में निरन्तर संलग्न । अप्–कर्म, तुर्–लगे हुए, प्रवृत्त । अप्तुर् + प्र० ३ । अप् और अपस् शब्दों का अर्थ कर्म है । तुर्–वेगपूर्वक लगना, वेग से आगे बढ़ना । (४) **कृण्वन्तः**—करते हुए, बनाते हुए । कृ (करना, स्वादि, पर०) + शतृ + प्र० ३ । (५) **विश्वम्**—विश्व को, संसार को, सबको । (६) **आर्यम्**—श्रेष्ठ, उत्कृष्ट, आर्य । (७) **अपघ्नन्तः**—मारते हुए, नष्ट करते (हुए) । अप + हन् (मारना, अदादि) +

शतृ + प्र० ३ । (८) **अराव्णः**—अदाता को, कृपण को । अ–नहीं, रावन्–देने वाला । रा (देना) से रावन् (देने वाला) बना है । अरावन् + द्वि० ३ ।

८. वेदों का ज्ञान चारों वर्णों के लिए

यथेमां वाचं कल्याणीम्, आवदानि जनेभ्यः ।
ब्रह्मराजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्याय च,
स्वाय चारणाय च ॥

यजु० २६-२

अन्वय—यथा इमां कल्याणीं वाचं जनेभ्यः आवदानि । ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय च, अर्याय च, स्वाय च, अरणाय च ।

शब्दार्थ—(यथा) जैसे, क्योंकि, (इमाम्) इस, (कल्याणीम्) कल्याणकारी, पवित्र, (वाचम्) वाणी को, अर्थात् चारों वेदरूपी कल्याणकारी वाणी को, (जनेभ्यः) लोगों के लिए, (आवदानि) बोलें । (ब्रह्म-राजन्याभ्याम्) ब्राह्मणों और क्षत्रियों को, (शूद्राय च) शूद्रों को, (अर्याय च) वैश्यों को, (स्वाय च) निजी या आत्मीय व्यक्तियों को, सेवक आदि को, (अरणाय च) पराए, दूरस्थ या विदेशी व्यक्तियों को ।

हिन्दी अर्थ—इस कल्याणकारी (पवित्र) वेदवाणी का ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, आत्मीय (सेवक आदि) और पराए (असंबद्ध विदेशी आदि) सभी लोगों को उपदेश दें ।

Eng. Tr.—May you preach this holy sermon (i.e. the Vedic hymns) to the Brahmanas, Kshatriyas, Vaishyas, Shudras, related persons and foreigners alike.

अनुशीलन—इस मन्त्र का अभिप्राय है कि परमात्मा ने मानवमात्र के कल्याण के लिए वेदज्ञान दिया है । मंत्र में वेदज्ञान को '**कल्याणीं वाचम्**' अर्थात् कल्याण करने वाली वाणी कहा गया है । यह किसी देश, किसी जाति या किसी वर्ग-विशेष की सम्पत्ति नहीं है । इसका प्रचार-प्रसार चारों वर्णों के लिए होना चाहिए ।

मंत्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के अतिरिक्त देशी-विदेशी, परिचित-अपरिचित, स्वामी और सेवक सबके लिए वेदज्ञान सुलभ होना चाहिए, ऐसा आदेश है।

संसार में मानव के कर्तव्यों का निर्देशक वेद से बढ़कर और कोई धर्म-ग्रन्थ नहीं है। वेदों का किसी देश, जाति या समाज से सम्बन्ध नहीं है, अतः वे मानवमात्र के लिए धर्मग्रन्थ हैं। वेदों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें मनुष्य की सभी समस्याओं का समाधान है। जीवन के लिए जिन उपयोगी तत्त्वों की आवश्यकता है, उनका विस्तृत वर्णन वेदों में मिलता है। जीवन-सम्बन्धी ऐसी कोई समस्या नहीं है, जिसका हल वेदों में न मिलता हो।

जीवन को प्रगतिशील, प्रकाशमय और सुखी बनाने के लिए वेद ही एकमात्र साधन है। अतएव मनु ने कहा है कि सारे धर्मों का मूल वेद है। वेद से ही ज्ञान की प्रतिष्ठा है।

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। मनु० २—६

सर्वज्ञानमयो हि सः। मनु० २—७

टिप्पणी—(१) **इमां वाचम्**—यहाँ कल्याणी वाणी से चारों वेदरूपी पवित्र वाणी का उल्लेख है। (२) **कल्याणीम्**—कल्याणकारिणी, पवित्र। (३) **आवदानि**—बोलूँ, कहूँ, उपदेश दूं। आ + वद् (बोलना, भ्वादि, पर०) + लोट् उ० १। (४) **जनेभ्यः**—लोगों को। बहुवचन के द्वारा सभी प्रकार के मनुष्यों एवं पंच-जनों का संग्रह है। पंच जन हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अतिशूद्र। (५) **ब्रह्म०**—ब्रह्म-ब्राह्मण, राजन्य-क्षत्रिय। (६) **अर्याय**—वैश्य। अर्य का अर्थ वैश्य है। (७) **स्वाय**—आत्मीय। परिजन, नौकर आदि अन्य संबद्ध व्यक्ति। (८) **अरणाय**—पराए। अरण का अर्थ है-दूर या विदेश के व्यक्ति, असंबद्ध व्यक्ति।

९. वेदोक्त कर्म करें

नकिर्देवा मिनीमसि, नकिरा योपयामसि ।
मन्त्रश्रुत्यं चरामसि ॥

ऋग्० १०-१३४-७; साम० १७६

अन्वय—हे देवाः, नकिः मिनीमसि, नकिः आ योपयामसि ! मन्त्रश्रुत्यं चरामसि ।

शब्दार्थ—(हे देवाः) हे देवो, (नकिः) कभी नहीं, (मिनीमसि) नियमों को तोड़ते हैं, (नकिः) न कभी, (आ योपयामसि) नियमों को नष्ट होने देते हैं। (मन्त्रश्रुत्यम्) मन्त्रों के कथनानुसार, (चरामसि) हम आचरण करते हैं।

हिन्दी अर्थ—हे देवो ! हम न कभी नियमों को तोड़ते हैं और न कभी नियमों को नष्ट होने देते हैं। वेद के मन्त्रों के आदेशानुसार आचरण करते हैं।

Eng. Tr.—O Gods ! let us neither ignore nor break the divine rules. May we act in accordance with the injunctions of the hymns of the Vedas.

अनुशीलन—समाज को सुखी बनाने के लिए मंत्र में दो शिक्षाएं दी गई हैं। ये हैं—१. प्राकृतिक नियमों को न तोड़ें, २. वेद की शिक्षाओं के अनुसार कर्म करें। जो भी व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र इन नियमों का पालन करता है, वह सदा समृद्ध होता है।

प्राकृतिक नियमों को न तोड़ें। प्राकृतिक नियम क्या हैं ? प्रकृति के अनुकूल कार्य करना। प्राकृतिक नियमों को ही ऋत कहते हैं। प्राकृतिक नियम है कि शुभ कर्म का फल शुभ होता है और बुरे कर्म का फल बुरा। संयम से तेजस्विता आती है और असंयम से रोग, बलक्षय, स्मरणशक्ति का नाश और अल्पायु। जो जिस मार्ग को अपनाता है, उसे वैसा ही फल मिलता है। मंत्र का आदेश है कि प्राकृतिक नियमों को न तोड़ें और न नष्ट होने दें।

मंत्र की दूसरी शिक्षा है कि वेद के आदेशों के अनुसार अपना आचरण रखें। वेदों में व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व के लिए आचार-संहिता दी हुई है। जो इसका पालन करते हैं, वे जीवन में सदा सफल होते हैं, उन्नत होते हैं और सुखमय जीवन व्यतीत करते हैं। इसीलिए मनुस्मृति में कहा गया है कि वेदों में धर्म का सार दिया गया है। वेदों में सबके कर्तव्यों का उल्लेख है। जो वैदिक शिक्षा के अनुसार काम करता है, वह इस लोक में कीर्ति पाता है और मृत्यु के बाद दिव्य सुख।

यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो, मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे, सर्वज्ञानमयो हि सः ॥ मनु० २-७
श्रुति-स्मृत्युदितं धर्मम्, अनुतिष्ठन् हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति, प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ मनु० २-९

टिप्पणी—(१) **नकिः**—नकिस् अव्यय है। इसके अर्थ हैं—न कोई, न कभी। न + किस् = नकिः। (२) **मिनीमसि**—तोड़ते हैं, नष्ट करते हैं। मी (नष्ट करना, नियम तोड़ना, क्र्यादि, पर०) + लट् उ० ३। मिनीमः से मिनीमसि, अन्त में इ का आगम। (३) **आ योपयामसि**—नष्ट करते हैं, नियमों को नष्ट होने देते हैं। आ + युप् (विघ्न करना, नष्ट करना, दिवादि, पर०) + णिच् + लट् उ० ३। योपयामः से योपयामसि, अन्त में इ का आगम। (४) **मन्त्रश्रुत्यम्**—मन्त्र–वेद के मंत्रों में, श्रुत्यम्—कहा गया, आदेश। वेद के मंत्रों के आदेश को। (५) **चरामसि**—हम आचरण करते हैं। चर् (चलना, भ्वादि, पर०) + लट् उ० ३। चरामः से चरामसि, अन्त में इ का आगम। (६) **पाठभेद**—सामवेद में नकिः के स्थान पर नकि है और मिनीमसि के स्थान पर इनीमसि पाठ है। दोनों का अर्थ पूर्ववत् है।

१०. जीवन भर पुरुषार्थी रहें

कुर्वन्नेवेह कर्माणि, जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति, न कर्म लिप्यते नरे ॥

यजु० ४०-२

अन्वय—इह कर्माणि कुर्वन् एव शतं समाः जिजीविषेत् । एवं त्वयि, इतः अन्यथा न अस्ति । कर्म नरे न लिप्यते ।

शब्दार्थ—(इह) इस संसार में, (कर्माणि) कर्मों को, (कुर्वन् एव) करता हुआ ही, (शतं समाः) सौ वर्ष, (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे । (एवं) इस प्रकार से (त्वयि) तेरे लिए मुक्ति है । (इतः अन्यथा) इससे भिन्न प्रकार से (न अस्ति) मुक्ति नहीं है । (कर्म) अनासक्त भाव से किया हुआ कर्म, (नरे) मनुष्य में, (न लिप्यते) लिप्त नहीं होता है, अर्थात् निष्काम भाव से किए हुए कर्म से मनुष्य बन्धन में नहीं पड़ता है ।

हिन्दी अर्थ—इस संसार में मनुष्य कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे । इस प्रकार से तुम्हारी मुक्ति होगी । इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार से मुक्ति नहीं होती है । निष्कामभाव से किया हुआ कर्म मनुष्य में लिप्त नहीं होता है अर्थात् निष्काम भाव से कर्म करने वाला व्यक्ति कर्म-बन्धन में नहीं पड़ता ।

Eng. Tr.—One should like to live in this world doing hard work for hundred years. There is no other way for one's salvation. A selfless and detached action keeps the doer away from harm.

अनुशीलन—यह चारों वेदों के मन्त्रों में बहुत महत्त्वपूर्ण मन्त्र है । कर्म ही जीवन है, कर्म ही शक्ति है, कर्म ही रक्षक है और कर्म ही गति है । जीवन की सफलता कर्म या पुरुषार्थ पर निर्भर है । अतएव मन्त्र का आदेश है कि सौ वर्ष तक सदा कर्मठ, पुरुषार्थी और उद्योगी रहें । जीवन में आलस्य को स्थान न दे, हीनता और निराशा की भावना को स्थान न दे । जहाँ पुरुषार्थ है, वहाँ श्री का निवास है, वहाँ सुख और सम्पत्ति है और वहीं पर आनन्द है । मन्त्र में यह भी निर्देश दिया गया है कि कर्म में आसक्ति नहीं होनी चाहिए । कर्तव्य-बुद्धि से कर्म किया जाए, अनासक्ति के भाव से कर्मों में प्रवृत्ति हो और निःस्वार्थ भाव प्रधान हो । अनासक्ति के भाव के उदय होने से जीवन में पवित्रता आती है,

शान्ति और स्थिरता आती है। यह मंत्र ही भगवद्गीता के अनासक्ति-योग एवं कर्मयोग का आधार है। इसका भाव ही गीता में—कर्मण्येवाधिकारस्ते० श्लोक में दिया गया है। जीवन में पुरुषार्थ को कभी न छोड़ें। यही जीवन है, यही जागृति है और यही सुख का मूल है।

टिप्पणी—(१) **कुर्वन्**—करता हुआ। कृ (करना) + शतृ प्र० १। (२) **जिजीविषेत्**—जीने की इच्छा करे। जीव् (जीना) + इच्छा अर्थ में सन् (स) + विधिलिङ् प्र० १। (३) **त्वयि**—तेरे लिए मुक्ति है। (४) **लिप्यते**—लिप्त होता है। लिप् + लट् प्र० १।

११. देवता पुरुषार्थी के सहायक

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं, न स्वप्नाय स्पृहयन्ति।
यन्ति प्रमादमतन्द्राः॥

ऋग्० ८-२-१८; साम०७२१;
अथर्व० २०-१८-३

अन्वय—देवाः सुन्वन्तम् इच्छन्ति, स्वप्नाय न स्पृहयन्ति। अतन्द्राः प्रमादं यन्ति।

शब्दार्थ—(देवाः) देवगण, (सुन्वन्तम्) यज्ञकर्ता को, सोमरस निकालने वाले को, (इच्छन्ति) चाहते हैं। (स्वप्नाय) आलसी या सुस्त को, (न स्पृहयन्ति) नहीं चाहते हैं। (अतन्द्राः) आलस्यहीन, पुरुषार्थी, (प्रमादम्) उत्कृष्ट आनन्द को, (यन्ति) प्राप्त होते हैं।

हिन्दी अर्थ—देवता यज्ञकर्ता या कर्मठ को चाहते हैं, आलसी को नहीं चाहते हैं। पुरुषार्थी व्यक्ति ही श्रेष्ठ आनन्द को प्राप्त करते हैं।

Eng. Tr.—The gods like hard-working persons. They dislike easy-going and idle people. Ever-wakeful persons attain great happiness.

अनुशीलन—पुरुषार्थ जीवन है। पुरुषार्थी की सहायता परमात्मा करता है। देवता पुरुषार्थी को ही चाहते हैं, संसार भी पुरुषार्थी को ही चाहता है। निष्क्रिय, अकर्मण्य और आलसी को न संसार चाहता है, न परमात्मा, न देवता। अकर्मण्य पुरुष वस्तुतः संसार के भार है। वह अपने लिए भी भार है और परिवार के लिए भी। अतएव मन्त्र में कहा गया है कि देवता पुरुषार्थी को ही चाहते हैं। संस्कृत का सुभाषित है कि—

उद्यमः साहसं धैर्यं बुद्धिः शक्तिः पराक्रमः।
षडेते यत्र वर्तन्ते तत्र देवः सहायकृत्॥

उद्यम, साहस, धैर्य, बुद्धि, शक्ति और पुरुषार्थ ये ६ गुण जहाँ रहते हैं, वहाँ परमात्मा भी सहायता करता है। पुरुषार्थी के साथ समाज चलता है। पुरुषार्थी ही समाज और राष्ट्र का निर्माण करते हैं। वे संसार का कल्याण करते हैं और संसार उनका गुणगान करता है। पुरुषार्थ, आलस्य का त्याग तथा निरन्तर अपने कर्तव्य में तत्पर रहना समृद्धि का मूल है, सफलता का रहस्य है। पुरुषार्थ और स्वावलम्बन का महत्त्व बताते हुए ही अंग्रेजी में भी कहा गया है:—God helps those, who help themelves,

टिप्पणी—(१) **इच्छन्ति**—इष् (चाहना, + लट् प्र० ३। (२) **सुन्वन्तम्**—सु (रस निकालना) + शतृ + द्वितीया १। (३) **स्पृहयन्ति**—स्पृह् (चाहना, चुरादि) + णिच् + लट् प्र० ३। स्पृह् के कारण स्वप्नाय में चतुर्थी है। (४) **यन्ति**—जाते हैं, प्राप्त होते हैं। इ (जाना, अदादि) + लट् प्र० ३। (५) **प्रमादम्**—प्र + मादम्, उत्कृष्ट आनन्द को। (६) **अतन्द्राः**—तन्द्रा या आलस्य से रहित व्यक्ति।

१२. अथक परिश्रमी को सभी सम्पदा

स रत्नं मर्त्यो वसु, विश्वं तोकमुत त्मना।
अच्छा गच्छत्यस्तृतः॥

ऋग्० १-४१-६

अन्वय—सः अस्तृतः मर्त्यः त्मना रत्नं विश्वं वसु उत तोकम् अच्छ गच्छति ।

शब्दार्थ—(सः) वह, (अस्तृतः) अथक परिश्रमी, अजेय, (मर्त्यः) मनुष्य, (त्मना) स्वयं, अपने पुरुषार्थ से, (रत्नम्) रत्नों को, (विश्वं वसु) सभी प्रकार की संपत्तिको, (उत) और, (तोकम्) पुत्र या संतान को, (अच्छ) ठीक ढंग से, (गच्छति) पाता है ।

हिन्दी अर्थ—वह अथक परिश्रमी व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से रत्नों को, सभी प्रकार के धन और संतान को ठीक ढंग से प्राप्त करता है ।

Eng. Tr.—The indefatigable person acquires the jewels, all sorts of wealth and the progeny by dint of his perseverance.

अनुशीलन—इस मंत्र में समृद्धि का सूत्र बताया गया है कि जो अथक परिश्रम करता है और अपने पुरुषार्थ पर विश्वास रखता है, वह सभी प्रकार की समृद्धि प्राप्त करता है ।

पुरुषार्थ और आत्म-विश्वास, ये दोनों सभी प्रकार की समृद्धि के साधन हैं । जहाँ उत्साह है, वहाँ पुरुषार्थ है; जहाँ पुरुषार्थ है, वहाँ कर्मठता है; जहाँ कर्मठता है, वहाँ आत्म-विश्वास है; जहाँ आत्मविश्वास है, वहाँ दृढनिश्चय है; जहाँ दृढ-निश्चय है, वहाँ सफलता है ।

मंत्र में अस्तृतः के द्वारा इसी अजेयता, दृढनिश्चय और अथक परिश्रम का निर्देश है । जो एकबार अथक परिश्रम के लिए तैयार हो जाता है, उसे आत्मबल मिल जाता है । इस आत्मिक शक्ति के सहारे ही मनुष्य जीवन में आगे बढ़ता जाता है और सभी प्रकार की समृद्धि पाता है ।

नीतिकारों का कथन है कि पुरुषार्थ और पराक्रम के साथ ही समृद्धि रहती है । जो आलसी हैं, उन्हें लौकिक और पारलौकिक कोई सफलता नहीं मिलती है ।

'निवसन्ति पराक्रमाश्रया, न विषादेन समं समृद्धयः' ।। किराता०

नास्त्यलसस्यैहिकामुष्मिकम् ।। चा० सूत्र १८४

जहाँ उत्साह और पराक्रम हैं, वहाँ श्री है । जहाँ अनुत्साह है, वहाँ असफलता,

पतन और विनाश । अतएव चाणक्य का कथन है कि पराक्रम से ही राजत्व स्थिर होता है । पराक्रमी के शत्रु भी मित्र हो जाते हैं । अनुत्साह से पतन और अवनति होती है ।

विक्रमधना हि राजानः । चा० सूत्र १८३

उत्साहवतां शत्रवोऽपि वशीभवन्ति । चा० सूत्र १८२

निरुत्साहाद् दैवं पतति । चा० सूत्र १८५

टिप्पणी—(१) **रत्नम्**—रत्नों को। बहुमूल्य पदार्थों को। (२) **विश्वं वसु**—सभी प्रकार के धनों को। विश्वम्–सभी, वसु–धन। वसु + द्वि० १। (३) **तोकम्**—पुत्र, संतान। (४) **उत**—और। अव्यय है। (५) **त्मना**—आत्मना का संक्षिप्त रूप है। स्वयं या अपने पुरुषार्थ से। आत्मन् + तृ० १। (६) **अच्छ**—अवश्य, ठीक ढंग से। अच्छा में छान्दस दीर्घ है। (७) **अस्तृतः**—अथक परिश्रमी, कभी न थकने वाला, अजेय, अधर्षणीय। अ + स्तृ + क्त (त)।

१३. शुभ विचार सब ओर से आवें

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतो-
ऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः।
देवा नो यथा सदमिद् वृधे असन्-
अप्रायुवो रक्षितारो दिवे-दिवे ॥

यजु० २५–१४

अन्वय—भद्राः अदब्धासः अपरीतासः उद्भिदः क्रतवः नः विश्वतः आ यन्तु। यथा अप्रायुवः रक्षितारः देवाः दिवे दिवे सदम् इत् नः वृधे असन्।

शब्दार्थ—(भद्राः) शुभ, कल्याणकारी, (अदब्धासः) अक्षत, निर्विघ्न, (अपरीतासः) अबाध, अप्रतिहत, (उद्भिदः) शुभ फलप्रद, उन्नतिकारक, (क्रतवः) विचार, संकल्प, (नः) हमें, (विश्वतः) चारों ओर से, (आ यन्तु) आवें, प्राप्त होवें। (यथा) जिस प्रकार से, (अप्रायुवः) आलस्यरहित, चुस्त, (रक्षितारः) रक्षा करने वाले, (देवाः) देवगण, (दिवे दिवे) प्रतिदिन, (सदम् इत्) सदैव, (नः) हमारी, (वृधे) वृद्धि के लिए, (असन्) होवें।

हिन्दी अर्थ—कल्याणकारी, विघ्नरहित, अप्रतिहत, शुभफलप्रद विचार हमें सभी ओर से प्राप्त हों। जिससे आलस्य-रहित और रक्षा करने वाले देवता प्रतिदिन सदा ही हमारी समृद्धि के लिए होवें, (हमारी समृद्धि करें)।

Eng. Tr.—Let noble, harmless and auspicious thoughts come to us from all directions. So that the ever-wakeful and benedictory Gods may be beneficial to our progress.

अनुशीलन—मानव विचारों का पुंज है, विचारों का मूर्तरूप है और विचारों की गठरी है। जैसे विचार होते हैं, वैसी ही आकृति भी होती है। मनुष्य के विचारों की छाया उसके मुख पर देखी जा सकती है। सज्जन-दुर्जन, शिष्ट-अशिष्ट, साधु-असाधु, संयमी-असंयमी, स्वस्थ-अस्वस्थ आकृति से पहचान लिए जाते हैं, अतएव मंत्र में विचार-शुद्धि पर बल दिया गया है। सद्विचार चारों ओर से हमारे अन्दर आवें। 'बालादपि सुभाषितम्,' बालक से भी अच्छी बात ग्रहण करनी चाहिए। बालक भी यदि हितकारी बात कहता है तो उसे अपनाना चाहिए। विचारों का इतना महत्त्व है कि वे वस्तुतः मनुष्य का काया-कल्प कर देते हैं। जैसे विचार मनुष्य में होंगे, वैसा ही वह बन जाता है। अतः कहा गया है कि—

यन्मनसा ध्यायति तद् वाचा वदति, यद् वाचा वदति तत् कर्मणा करोति, यत् कर्मणा करोति तदभिसंपद्यते।

मनुष्य जो कुछ मन में सोचता है, वही वाणी से कहता है। जो वाणी से कहता है, वैसा ही कर्म करता है और जैसे कर्म करता है, उसी प्रकार बन जाता है।

इसलिए विचारों की शुद्धि पर बल दिया गया है। सद्विचार सभी ओर से आवें, यही देवों की कृपा है, यही परमात्मा की कृपा है और यही कल्याण का मार्ग है। महाभारत का सुभाषित है कि—

न देवा यष्टिमादाय, रक्षन्ति पशुपालवत्।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति, बुद्धया संयोजयन्ति तम्॥

देवता ग्वाले की तरह डंडा लेकर मनुष्य की रक्षा नहीं करते हैं, अपितु जिसकी रक्षा करना चाहते हैं, उसे सद्बुद्धि दे देते हैं, उसे उत्तम विचार दे देते हैं।

टिप्पणी—(१) **अदब्धासः**—दब्ध—क्षत, अदब्ध—अक्षत। नञ् (अ) + दभ् + क्त (त) + प्रथ० ३। (२) **आ यन्तु**—आवें। यन्तु—इ (जाना, अदादि) + लोट् प्र० ३। (३) **अपरीतासः**—परीत—घिरे हुए, प्रतिहत, अपरीत—न घिरे हुए, अबाध, बेरोक-टोक। नञ् (अ) + परि + इ (जाना) + क्त (त + प्रथ० ३। (४) **उद्भिदः**—उन्नतिकारी, फल को प्रकट करने वाले। उद् + भिद् + क्विप् (०) + प्रथ० ३। (५) **सदम्**—सदा, इत्—ही, सदैव। (६) **असन्**—होवें। अस् (होना, अदादि)। लोट् + प्र० ३। (७) **अप्रायुवः**—आलस्यरहित, कर्मठ। नञ् + प्र + आ + यु (अदादि) + क्विप् (०) + प्रथमा ३। (८) **रक्षितारः**—रक्षक। रक्ष् + तृच् + प्रथमा ३। (९) **दिवे दिवे**—प्रतिदिन।

१४. सदा प्रसन्नचित्त रहें

विश्वदानीं सुमनसः स्याम,
पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्।
तथा करद् वसुपतिर्वसूनां,
देवाँ ओहानोऽवसागमिष्ठः॥

ऋग्० ६-५२-५

अन्वय—विश्वदानीं सुमनसः स्याम, नु उच्चरन्तं सूर्यं पश्येम। वसूनां वसुपतिः, देवान् ओहानः, अवसा आगमिष्ठः, तथा करत्।

शब्दार्थ—(विश्वदानीम्) सदा, (सुमनसः) सुन्दर मन वाले, पवित्र हृदय या प्रसन्नचित्त, (स्याम) होवें। (नु) निश्चय से, (उच्चरन्तम्) उदय होते हुए, (सूर्यम्) सूर्य को, (पश्येम) देखें। (वसूनाम्) धनों का, (वसुपतिः) धनपति अग्नि, (देवान्) देवों को, (ओहानः) यहां लाता हुआ, लाने वाला, (अवसा) रक्षा या संरक्षण के साथ, (आगमिष्ठः) प्रेमपूर्वक आने वाला, (तथा) वैसा, (करत्) करे।

हिन्दी अर्थ—हम सदा पवित्र हृदय (प्रसन्नचित्त) हों। सदा उदय होते हुए सूर्य को देखें। धन का महास्वामी, देवों को लाने वाला और प्रेमपूर्वक आने वाला अग्नि, ऐसा ही करे।

Eng. Tr.—Let us be ever-cheerful. May we see the rising sun for-ever. May the fire-god, the lord of the wealth, fetcher of the gods and a joyous visitor to us, do so.

अनुशीलन—इस मंत्र में परमात्मा से दो प्रार्थनाएं की गई हैं—१. प्रसन्नचित्त हों, २. दीर्घायु हों।

मंत्र का कथन है कि हम सदा प्रसन्नचित्त रहें। सुमनस् शब्द के अर्थ हैं—सुन्दर मन वाले, प्रसन्नचित्त, पवित्र हृदय वाले और उदार चित्त। मन की सर्वोत्तम स्थिति है हार्दिक प्रसन्नता। मन प्रसन्न है तो सभी इन्द्रियों में शक्ति, स्फूर्ति और ऊर्जा है। मन की अप्रसन्नता निराशा की सूचक है। मन की प्रसन्नता के लिए आवश्यक है कि हृदय शुद्ध हो, मन पवित्र विचारों से युक्त हो और उसमें सद्भावना का निवास हो। मंत्र में विश्वदानीम् शब्द से बल दिया गया है कि हर समय प्रसन्नचित्त रहें।

गीता में निम्नलिखित दो श्लोकों में इस विषय को बहुत स्पष्ट किया गया है। मनुष्य प्रसन्नचित्त कब रहता है? इसका उत्तर दिया है कि जब मनुष्य का मन राग-द्वेष से रहित होता है और इन्द्रियों पर संयम होता है, तब मनुष्य प्रसन्नचित्त होता है। इससे क्या लाभ हैं? प्रसन्नचित्त होने के लाभ हैं—सारे दुःखों का नाश और बुद्धि की स्थिरता। प्रसन्नचित्त व्यक्ति के सारे क्लेश नष्ट हो जाते हैं और मन पवित्र होने से उसकी बुद्धि भी शान्त और स्थिर रहती है।

> रागद्वेषवियुक्तैस्तु, विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
> आत्मवश्यैर्विधेयात्मा, प्रसादमधिगच्छति ॥ गीता २-६४
> प्रसादे सर्वदुःखानां, हानिरस्योपजायते।
> प्रसन्नचेतसो ह्याशु, बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ गीता २-६५

मंत्र में दूसरी प्रार्थना की गई है कि हम दीर्घायु हों, हमारी सभी इन्द्रियां

हृष्ट-पुष्ट हों, जिससे हम जीवन भर सूर्योदय देख सकें। स्वस्थ व्यक्ति के लिए ही संसार में सारे सुख हैं। सुन्दर स्वास्थ्य और प्रसन्नचित्तता ही जीवन को सुखमय बनाते हैं।

टिप्पणी—(१) **विश्वदानीम्**—सदा। विश्व + दानीम्। अव्यय है। (२) **सुमनसः**—सुन्दर या पवित्र मन वाले, प्रसन्नचित्त। सुमनस् + प्र० ३। (३) **स्याम**—होवें। अस् (होना, अदादि, पर०) + विधिलिङ् उ० ३। (४) **पश्येम**—देखें। दृश् (पश्य्, देखना, भ्वादि, पर०) + विधिलिङ् उ० ३। (५) **उच्चरन्तम्**—उदय होते हुए, निकलते हुए। उत् + चर् (जाना, भ्वादि, पर०) + शतृ + द्वि० १। (६) **करत्**—करे। कृ (करना, अदादि, पर०) + लेट् प्र० १। (७) **ओहानः**—लाने वाला। आ + वह् (लाना, भ्वादि) + लिट्—कानच् (आन) + प्र० १। आ + ऊहानः = ओहानः। (८) **अवसा**—रक्षा के साथ, अनुग्रह के साथ। अवस् + तृ० १। (९) **आगमिष्ठः**—प्रेमपूर्वक आने वाला, आने वालों में श्रेष्ठ। आगम (आना) + इष्ठन् (इष्ठ)।

१५. व्रत और श्रद्धा से अभ्युदय

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि।
व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितो अहम्॥

यजु० २०-२४

अन्वय—हे व्रतपते अग्ने, त्वयि समिधम् अभि आ दधामि। व्रतं च श्रद्धां च उपैमि। दीक्षितः अहं त्वा इन्धे।

शब्दार्थ—(हे व्रतपते अग्ने) हे व्रतों के पालक अग्नि, (त्वयि) तुझमें, (समिधम्) समिधा को, (अभि आ दधामि) मैं रखता हूँ। (व्रतं च श्रद्धां च) व्रत और श्रद्धा को, (उपैमि) प्राप्त होता हूँ। (दीक्षितः अहम्) दीक्षा को प्राप्त मैं, (त्वा) तुझको, (इन्धे) प्रदीप्त करता हूँ।

हिन्दी अर्थ—हे व्रतों के पालक अग्नि! मैं तुझमें समिधा डालता हूँ। व्रत और श्रद्धा को प्राप्त होता हूँ। दीक्षित मैं तुझे प्रदीप्त करता हूँ।

Eng. Tr.—O Fire-god, Lord of observances ! I cast the fuel-sticks in you, so that I may attain the vow and the faith. I, being consecrated, kindle you.

अनुशीलन—इस मंत्र में व्रत और श्रद्धा से अभ्युदय की प्राप्ति बताई गई है। अग्नि या परमात्मा व्रतपति है। परमात्मा व्रत की रक्षा करता है। जो व्रत करता है, उसको परमात्मा आत्मिक बल देता है। इसलिए वह व्रतपति है। इस आत्मिक बल से वह अपने नियम पर दृढ रहता है और विपत्तियों को सहन कर लेता है।

इसी भाव को यजुर्वेद में अन्यत्र स्पष्ट किया गया है।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति, दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति, श्रद्धया सत्यमाप्यते।। यजु० १९-३०

व्रत से दीक्षा को प्राप्त करता है। व्रत क्या है? किसी शुभ कार्य को करने का संकल्प या निर्णय व्रत है। व्रत लेने के साथ ही वह दीक्षा लेता है। 'मैं इस काम को करूँगा' यह निर्णय दीक्षा है। इसलिए व्रत लेने वाला दीक्षित हो जाता है। दीक्षा एक लक्ष्य की ओर निष्ठा या प्रवृति है। इस निष्ठा से वह दक्षिणा या योग्यता प्राप्त करता है। कर्तव्यनिष्ठा का फल होता है, उस कार्य में विशेष योग्यता या निपुणता। इस दक्षिणा या योग्यता से ही उस कार्य के प्रति श्रद्धा होती है। श्रद्धा का अर्थ होता है—श्रत् + धा। श्रत् अर्थात् हृदय को, धा—लगाना। किसी काम में अपने हृदय को लगा देना श्रद्धा है। किसी कार्य में तल्लीनता या निष्ठा श्रद्धा है। इस श्रद्धा से सत्यस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति होती है। व्रत, दीक्षा और श्रद्धा, ये मनुष्य को अपने लक्ष्य तक पहुँचाते हैं। व्रत प्रयत्न की प्रारम्भिक स्थिति है और श्रद्धा उसकी चरम अवस्था। जहाँ श्रद्धा का भाव जागृत हो गया, वहाँ सब प्रकार की सफलता और आत्म-साक्षात्कार प्राप्त होता है।

टिप्पणी—(१) **अभि आ दधामि**—रखता हूँ, डालता हूँ। आ + धा (रखना, जुहो० पर०) + लट् उ० १। (२) **समिधम्**—समिधा को। समिध् + द्वि० १। (३) **व्रतपते**—हे व्रतों के रक्षक। पति—पालक, रक्षक। (४) **व्रतम्**—किसी

नियम के पालन को व्रत कहते हैं। व्रत स्व-निर्धारित कर्तव्यानुष्ठान है। (५) **श्रद्धाम्**—उस कार्य के प्रति विश्वास और निष्ठा उत्पन्न करना श्रद्धा है। श्रत्-सत्य या हृदय को, धा-रखना, लगाना। श्रद्धा में उस कार्य के प्रति आत्मसमर्पण की भावना रहती है। (६) **उपैमि**—प्राप्त होता हूँ। उप + इ (प्राप्त होना, अदादि, पर०) + लट् उ० १। (७) **इन्धे**—जलाता हूँ, प्रदीप्त करता हूँ। इन्ध् (जलाना, रुधादि, आ०) + लट् उ० १। (८) **दीक्षितः**—दीक्षा-प्राप्त व्यक्ति। दीक्ष् (दीक्षा लेना, भ्वादि) + क्त (त)।

१६. सभी समृद्धियां प्राप्त हों

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो,
भगेमां धियमुदवा ददन्नः।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैः-
भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम॥

ऋग्० ७-४१-३; अथर्व० ३-१६-३;
यजु० ३४-३६; तैत्ति० ब्रा० २-५-५-२

अन्वय—हे प्रणेतः भग, हे सत्यराधः भग, हे भग, ददत् नः इमां धियम् उत् अव। हे भग, नः गोभिः अश्वैः प्र जनय। हे भग, नृभिः नृवन्तः प्र स्याम।

शब्दार्थ—(हे प्रणेतः भग) हे उन्नति की ओर ले जाने वाले ऐश्वर्यशाली देव, (हे सत्यराधः भग) हे अविनाशी ऐश्वर्य वाले सौभाग्य देव, (हे भग) हे ऐश्वर्य-देव, (ददत्) तुम हमें धनादि देते हुए, (नः) हमारी, (इमाम्) इस, (धियम्) बुद्धि को, (उत् अव) उन्नत करो, सूक्ष्मदर्शी बनाओ। (हे भग) हे ऐश्वर्यशाली देव, (नः) हमें, (गोभिः) गायों से, (अश्वैः) घोड़ों से, (प्रजनय) उन्नत करो। (हे भग) हे ऐश्वर्य-देव, (नृभिः) लोगों से, पुत्रादि से, (नृवन्तः) मनुष्य-युक्त, (प्र स्याम) होवें।

हिन्दी अर्थ—हे पथप्रदर्शक ऐश्वर्यशाली देव! हे समृद्धिशाली ऐश्वर्य देव! हे सौभाग्य-देव! तुम हमें धनादि देते हुए, हमारी बुद्धि को उन्नत

करो। हे ऐश्वर्य देव ! हमें गायों और घोड़ों से समृद्ध करो। हे ऐश्वर्य देव ! हम पुत्रादि से सुसमृद्ध हों।

Eng. Tr.—O Lord of wealth, the guide and the bounteous one ! may you, bestowing wealth on us, elevate our intellects. O Lord of wealth ! make us prosperous giving us cows and horses. O Lord of wealth ! may we prosper with the progeny.

अनुशीलन—इस मंत्र में ऐश्वर्य के दाता परमात्मा को भग देवता के नाम से संबोधित किया गया है। परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि वह हमें सभी प्रकार की समृद्धि दे। हम पशुधन और योग्य सन्तान से सम्पन्न हों।

मंत्र में ऐश्वर्य-प्राप्ति के साधनों की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया गया है। ऐश्वर्य-प्राप्ति का साधन है–सद्बुद्धि। मंत्र में परमात्मा से प्रार्थना है कि वह ऐश्वर्य के लिए सद्बुद्धि दे। मनुष्य को परमात्मा की सबसे बड़ी देन सुबुद्धि है। सुबुद्धि में प्रेरकत्व है, मार्गदर्शकत्व है और अभीष्ट-साधकत्व है। अतएव आचार्य चाणक्य ने कहा है कि—कठिन परिस्थितियों में भी मार्ग निकालना और पथ-प्रदर्शन बुद्धि का कार्य है।

कार्यसंकटेषु अर्थव्यवसायिनी बुद्धिः। चा० सूत्र २१७

संसार में धन का महत्त्व सर्वविदित है। धन से ही मनुष्य के सारे काम चलते हैं। जीवनयात्रा का प्रमुख साधन धन है। धन से ही सुख, समृद्धि और ऐश्वर्य है। धन से ही दान, धर्म, तप, पुण्य संभव होता है। आचार्य चाणक्य ने इस विषय पर गंभीर चिन्तन किया है। उनका कथन है कि धर्म का आधार धन है। काम का मूल भी धन है। सांसारिक सफलता का आधार धन या अर्थ है। इसलिए धन-संग्रह में कभी शिथिलता नहीं करनी चाहिए। अजर-अमर के तुल्य अपने आपको मानकर धनोपार्जन करे।

धर्मस्य मूलमर्थः। चा० सू० २

अर्थमूलौ धर्मकामौ। चा० सू० ९१

अर्थमूलं कार्यम्। चा० सू० ९२

टिप्पणी—(१) **भग**—ऐश्वर्य के देव का नाम भग है। हे सौभाग्य देवता। (२) **प्रणेतः**—प्र–उत्कृष्ट, नेतः–नेता, नायक। उन्नति की ओर ले जाने वाले। प्र + नी + तृ + सं० १। (३) **सत्यराधः**—सत्य–अविनाशी, श्रेष्ठ, राधस्–धन वाले। राधस् का अर्थ धन और दान है। हे अनश्वर धन वाले या वस्तुतः दानी। सं० १। (४) **उद् अव**—रक्षा करो, उठावो, उन्नत करो। अव् (रक्षा करना, भ्वादि, पर०) + लोट् म० १। (५) **ददत्**—देते हुए, धनादि देते हुए। दा (देना, जुहो०) + शतृ प्र० १। (६) **प्रजनय**—अधिक उत्कृष्ट करो, उन्नत करो। जन् (पैदा होना, दिवादि, आ)० + णिच् + लोट् म० १। (७) **नृवन्तः**—मनुष्यों से युक्त, पुत्रादि से युक्त। नृ + मत् + प्र० ३। म् को व् आदेश। (८) **स्याम**—होवें। अस् (होना, अदादि, पर०) + विधि० + उ० ३।

१७. हम सभी ऐश्वर्य-संपन्न हों

भग एव भगवाँ अस्तु देवाः,
तेन वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति
स नो भग पुरएता भवेह॥

ऋग्० ७-४१-५; अथर्व० ३-१६-५;
यजु० ३४-३८; तैत्ति० ब्रा० २-५-५-१

अन्वय—हे देवाः, भगः एव भगवान् अस्तु। तेन वयं भगवन्तः स्याम। हे भग, तं त्वा सर्वः इत् जोहवीति, हे भग, सः इह नः पुरएता भव।

शब्दार्थ—(हे देवाः) हे देवो, (भगः एव) भग देवता ही, ऐश्वर्य का देवता ही, (भगवान्) ऐश्वर्य से युक्त, अर्थात् हमें ऐश्वर्य का प्रदाता, (अस्तु) हो। (तेन) उससे, भग देवता के द्वारा प्रदत्त उस धन से, (वयम्) हम, (भगवन्तः) ऐश्वर्यशाली, (स्याम) होवें। (हे भग) हे ऐश्वर्य-देव, (तं त्वा) उस तुझको, (सर्वः इत्) सभी लोग, (जोहवीति) पुकारते हैं, आह्वान करते हैं। (हे भग) हे ऐश्वर्य देव, (सः) वह तुम, (इह) यहाँ पर, इस संसार में, (नः) हमारे, (पुरः एता) अग्रगामी, पथ-प्रदर्शक, मार्गदर्शक, (भव) होओ।

हिन्दी अर्थ—हे देवो ! भग देवता ही हमारे लिए ऐश्वर्य का दाता हो। उसके द्वारा प्रदत्त धन से हम धनवान् हों। हे भगदेव ! तुम्हें सभी लोग पुकारते हैं। तुम इस संसार में हमारे मार्ग-दर्शक होओ।

Eng. Tr.—O Gods ! Bhaga, the lord of wealth, is the only bestower of the riches upon us. May we prosper by his gifts. O Lord of wealth ! everyone invokes you. May you be our guide in this world.

अनुशीलन—इस मंत्र में प्रार्थना की गई है कि परमात्मा की कृपा से हम ऐश्वर्य-संपन्न हों। परमात्मा हमारा मार्गदर्शक हो।

सारा संसार ऐश्वर्य के लिए परमात्मा को पुकारता है। परमात्मा ऐश्वर्य का स्वामी है। ऐश्वर्य का दाता और संहर्ता वही है। इसलिए उसको अमृत और मृत्यु दोनों कहा गया है।

यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः। अथर्व० ४-२-२

उसकी कृपा अमृत है और उसकी अकृपा मृत्यु है। मनुष्य को धन चाहिए, अमृत चाहिए और समग्र सुख चाहिए। क्या ये धन, अमृत और सुख स्वयं आ जाते हैं ? नहीं, इनके लिए कठोर परिश्रम, तपस्या और साधना करनी पड़ती है। श्री मनुष्य का पसीना ही नहीं, खून भी चाहती है। जो अपने आपको संकट में डालकर निरन्तर श्रम करता है, उसे श्री मिलती है। अतएव आचार्य चाणक्य ने कहा है कि साहसी को ही लक्ष्मी मिलती है। जो आलसी और अनुत्साही हैं, उन्हें न इस जीवन में और न अगले जीवन में सुख मिलता है। अनुत्साह का फल है—पतन, दुर्भाग्य और विनाश। पुरुषार्थ का फल है–राजत्व, ऐश्वर्य और उत्थान।

साहसे लक्ष्मीर्वसति। चा० सूत्र १५०
नास्त्यलसस्यैहिकामुष्मिकम्। चा० सूत्र १८४
निरुत्साहाद् दैवं पतति। चा० सूत्र १८५
विक्रमधना राजानः। चा० सूत्र १८३

सारा संसार धन के लिए ही संबन्ध जोड़ता है और बिगाड़ता है। धन ही लोगों के संबन्ध का नियामक है। वही मित्र और शत्रु तैयार करता है।

अर्थाधीन एव नियतसंबन्धः। चा० सू० १९१

टिप्पणी—(१) **भगः**—ऐश्वर्य का देवता। (२) **भगवान्**—ऐश्वर्य से युक्त हो, अर्थात् वह हमें ऐश्वर्य दे। भग + मत् + प्र० १। (३) **अस्तु**—होवे। अस् (होना, अदादि) + लोट् प्र० १। (४) **भगवन्तः**—ऐश्वर्यशाली। भग + मत् + प्र० ३। म् को व्। (५) **स्याम**—हों। अस् (होना) + विधि० + उ० ३। (६) **सर्वः इत्**—सभी। इत्–ही। (७) **जोहवीति**—बार बार पुकारते हैं। हू (ह्वे, पुकारना, भ्वादि, आ०) + यङ्लुक् + लट् प्र० १। धातु को द्वित्व होकर यह रूप बनता है। (८) **पुरएता**—पुरः–आगे, एता–चलने वाला। अग्रगामी, पथ-प्रदर्शक। इ (जाना, अदादि) + तृ + प्र० १। (९) **भव**—होओ। भू (होना) + लोट् म० १।

१८. शुभ कर्मों से ही श्रीवृद्धि

वयमिद् वः सुदानवः, क्षियन्तो यान्तो अध्वन्ना।
देवा वृधाय हूमहे॥

ऋग्० ८-८३-६

अन्वय—हे सुदानवः देवाः, क्षियन्तः अध्वन् आ यान्तः वयं वः इद् वृधाय हूमहे।

शब्दार्थ—(हे सुदानवः देवाः) हे सुन्दर दान देने वाले देवो, (क्षियन्तः) गृहों में निवास करते हुए, (अध्वन्) सन्मार्ग पर, (आ यान्तः) अच्छे प्रकार चलते हुए, (वयम्) हम, (वः) तुमको, (इद्) ही, (वृधाय) समृद्धि के लिए, (हूमहे) आह्वान करते हैं।

हिन्दी अर्थ—हे सुन्दर दान देने वाले देवो ! गृहों में निवास करते हुए और सन्मार्ग पर चलते हुए हम आपको ही समृद्धि के लिए पुकारते हैं।

Eng. Tr.—O Charitable Gods ! we living in our dwellings and following good path, invoke you for our prosperity.

अनुशीलन—सन्मार्ग पर चलना ही समृद्धि का मार्ग है। जिसमें दानशीलता है, सन्मार्ग-गामिता है, वह समृद्धि को अवश्य प्राप्त करेगा। समृद्धि के लिए देवों से प्रार्थना की गई है। साथ ही यह आश्वासन दिलाया गया है कि हम सन्मार्ग पर चलते हैं। सन्मार्ग पर चलना मनुष्य की आन्तरिक पवित्रता और सद्भावना का सूचक है। प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह कुमार्ग और सन्मार्ग में भेद करे। सन्मार्ग उन्नति और विकास का साधन है, अतः उसे अपनावे। कुमार्ग अकल्याण, शोक, हानि और विपत्ति का मार्ग है, अतः उसका परित्याग करे। सन्मार्ग को अपनाने से ही मनुष्य की श्रीवृद्धि होती है।

टिप्पणी (१) **सुदानवः**—सु—सुन्दर, दानवः—दान देने वाले। सुदानु + संबोधन ३। (२) **क्षियन्तः**—रहते हुए, घरों में रहते हुए। क्षि (रहना, तुदादि) शतृ + प्रथमा ३। (३) **यान्तः**—चलते हुए। या (जाना, अदादि) + शतृ प्र० ३। (४) **अध्वन्**—मार्ग पर, सन्मार्ग पर। अध्वनि के इ का लोप है। (५) **हूमहे**—आह्वान करते हैं, पुकारते हैं। ह्वे–हू—(पुकारना, अदादि, आ०) + लट् उ० ३।

१९. घर धन-धान्य से परिपूर्ण हों

उपहूता इह गाव, उपहूता अजावयः।
अथो अन्नस्य कीलाल, उपहूतो गृहेषु नः॥
क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये
शिवᳬ शग्मᳬ शंयोः शंयोः॥

यजु० ३-४३; अथर्व० ७-६०-५

अन्वय—इह गावः उपहूताः, अजावयः उपहूताः। अथो अन्नस्य कीलालः नः गृहेषु उपहूतः। क्षेमाय शान्त्यै वः प्रपद्ये, शिवं शग्मं शंयोः शंयोः (अस्तु)।

शब्दार्थ—(इह) इस गृह में, (गावः) गायें, (उपहूताः) आमन्त्रित हैं। (अजावयः) बकरी और भेड़, (उपहूताः) आमन्त्रित हैं। (अथो) और, (अन्नस्य) अन्न का, (कीलालः) रस, पेय, (नः) हमारे, (गृहेषु) घरों में, (उपहूतः) आमन्त्रित

है । (क्षेमाय) कल्याण के लिए, प्राप्त धन की सुरक्षा के लिए, (शान्त्यै) शान्ति के लिए, अनिष्ट निवारण के लिए, (वः प्रपद्ये) तुम्हारी शरण में आता हूँ, तुम्हारे पास आता हूँ। (शिवम्) कल्याण, (शग्मम्) सुख, (शंयोः शंयोः) सुख और कुशलता, (अस्तु) होवे।

हिन्दी अर्थ—इस घर में गाय, बकरी और भेड़ आमन्त्रित हैं। हमारे घरों में अन्न का पेय आमन्त्रित है। (हे गृह के देवो !) अपने कल्याण और शान्ति के लिए तुम्हारी शरण में आता हूँ। यहाँ सुख, कल्याण शान्ति और कुशलता रहे।

Eng. Tr.—The cows, the goats, the sheep and the sweet beverage of grains are welcomed in our houses. O Gods of the house ! I approach you for peace and welfare. May happiness, welfare peace and prosperity reside here.

अनुशीलन—इस मन्त्र में परिवार के सुख एवं समृद्धि के लिए पशु-धन और अन्न-समृद्धि की कामना की गई है। जिस घर में गाय आदि पशु हैं, वहाँ दूध-घी आदि की प्रचुरता होगी। परिवार के सभी व्यक्ति हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ होंगे। पारिवारिक समृद्धि के लिए पशु-धन भी आवश्यक है। इसी प्रकार अन्न की बहुलता भी होनी चाहिए। विविध अन्नों के द्वारा ही हमारे सारे भोज्य पदार्थ बनते हैं। अतएव पशु एवं अन्न दोनों प्रकार के धनों की प्रार्थना की गई है।

साथ ही यह भी प्रार्थना की गई है कि परिवार में सुख, शान्ति, कल्याण और योगक्षेम रहे। शिव और शग्म में अन्तर किया गया है कि लौकिक सुख शिव है और पारलौकिक सुख शग्म है। शंयोः शब्द योगक्षेम का सूचक है। शम् + योः को मिलाकर शंयोः बना है। शम् का अर्थ है सुख, शान्ति और योः का अर्थ है—सुरक्षा, कल्याण। इस प्रकार शंयोः शब्द योगक्षेम का अर्थ बताता है।

टिप्पणी—(१) **उपहूताः**—आमन्त्रित हैं या बुलाई जा रही हैं। उप + ह्वे (पुकारना, भ्वादि) + क्त (त) + प्र० ३। (२) **अजावयः**—अज—बकरी, अवि—भेड़। (३) **अन्नस्य कीलालः**—अन्नों से बनाया हुआ पेय पदार्थ। कीलाल का अर्थ

मधुर रस, मधुर पेय, शक्तिवर्धक आसव आदि पेय है। (४) **क्षेमाय**—कल्याण के लिए। प्राप्त या संगृहीत धन की सुरक्षा क्षेम है। (५) **शान्त्यै**—शान्ति के लिए, सब प्रकार के अनिष्टों के निवारण के लिए। (६) **प्रपद्ये**—पास जाता हूँ, शरण में आता हूँ। प्र + पद् (जाना, दिवादि, आ०) + लट् उ० १। (७) **शिवं शग्मम्**—दोनों का अर्थ सुख है। शिव लौकिक सुख के लिए है और शग्म पारलौकिक सुख के लिए है। (८) **शंयोः शंयोः**—शम्–सुख, योः–कल्याण, सुरक्षा। सभी प्रकार का कल्याण शंयोः है। सदा कल्याण रहे, अतः दो बार पाठ है।

२०. लोकप्रिय हों

प्रियं मा कृणु देवेषु, प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यतः, उत शूद्र उतार्ये॥

अथर्व० १९-६२-१

अन्वय—मा देवेषु प्रियं कृणु, मा राजसु प्रियं कृणु। सर्वस्य पश्यतः प्रियम्, उत शूद्रे उत अर्ये।

शब्दार्थ—(मा) मुझको, (देवेषु) देवों में, (प्रियम्) प्रिय, (कृणु) बनाओ। (मा) मुझको, (राजसु) राजाओं में, (प्रियम्) प्रिय, (कृणु) बनाओ। (सर्वस्य) सभी, (पश्यतः) देखने वालों का, (प्रियम्) प्रिय बनूँ। (उत शूद्रे) चाहे वह शूद्र हो, (उत अर्ये) चाहें वैश्य हो।

हिन्दी अर्थ—हे परमात्मन्! मुझे देवों में प्रिय बनाओ। मुझे राजाओं में प्रिय बनाओ। सभी देखने वालों का प्रिय बनूँ, चाहे वे शूद्र हों या वैश्य।

Eng. Tr.—O God! get me loved by the Gods and kings. May I be loved by all, who-so-ever perceives me, whether a Vaishya or a Shudra.

अनुशीलन—इस मंत्र में सर्वप्रिय होने का वर्णन है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारों वर्णों का प्रिय होने का उल्लेख है। सर्वप्रिय का अभिप्राय है—

हम सबसे प्रेम करें और सब हमसे प्रेम करें। प्रेम यह पारस्परिक आदान-प्रदान है। जैसा हम दूसरों के प्रति सोचेंगे, उसी प्रकार वे भी हमारे बारे में सोचेंगे। यह मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। प्रेम प्रेम को जन्म देता है और घृणा घृणा को। यदि प्रेम का वातावरण तैयार करना है तो हमें भी सबसे प्रेम करना होगा। इसके उत्तर में अन्य सभी व्यक्ति हमें प्रेम की दृष्टि से देखेंगे और हमसे प्रेम करेंगे। इस प्रकार हमारे कर्म हमें सबका प्रिय बना सकेंगे।

टिप्पणी—(१) मा—मुझको। माम् के स्थान पर मा है। (२) **कृणु**—करो। कृ (करना, स्वादि) + लोट् म० १। (३) **पश्यतः**—देखने वालों का। दृश् (पश्य्) + लट्, शतृ + ष० १। (४) **उत शूद्रे०**—चाहे शूद्र हो या वैश्य, सभी देखने वालों का प्रिय बनूँ। अर्य का अर्थ वैश्य है।

२१. चारों वर्ण तेजस्वी हों

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु, रुच ँ राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु, मयि धेहि रुचा रुचम् ॥

यजु० १८-४८

अन्वय—(हे अग्ने) नः ब्राह्मणेषु रुचं धेहि। नः राजसु रुचं कृधि। विश्येषु शूद्रेषु रुचं (कृधि)। मयि रुचा रुचं धेहि।

शब्दार्थ—(हे अग्ने) हे परमात्मन्, (नः) हमारे, (ब्राह्मणेषु) ब्राह्मणों में, (रुचम्) तेजस्विता, कान्ति, (धेहि) रखो, दो। (नः) हमारे, (राजसु) राजाओं में, क्षत्रियों में, (रुचम्) तेजस्विता, (कृधि) करो, दो। (विश्येषु) वैश्यों में, (शूद्रेषु) शूद्रों में, (रुचं कृधि) तेजस्विता दो। (मयि) मुझमें, (रुचा) तेजस्विता के साथ, (रुचम्) तेज, (धेहि) रखो, अर्थात् मुझे अखंड तेजस्विता से युक्त करो।

हिन्दी अर्थ—हे परमात्मन्! हमारे ब्राह्मणों में तेजस्विता दो। हमारे क्षत्रियों में तेजस्विता दो। हमारे वैश्यों और शूद्रों में तेजस्विता दो। मुझे अखंड तेजस्विता से युक्त करो।

Eng. Tr.—O God! vouchsafe glory on the Brahmanas,

the Kshatriyas, the Vaishyas and the Shudras. May you bestow unfailing brilliance on me.

अनुशीलन—इस मंत्र में समस्त समाज में तेजस्विता की कामना की गई है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, ये चारों समाज के अंग हैं। चारों वर्णों की उन्नति, उनकी तेजस्विता, समाज की तेजस्विता होगी।

समाज के दो रूप हैं—समष्टि और व्यष्टि। इसको ही समाज और व्यक्ति कहा जाता है। व्यक्ति समाज का एक अंग है। व्यक्तियों को मिलाकर समाज बनता है। यदि व्यक्ति तेजस्वी, सुखी और संपन्न है, तो समाज भी तेजस्वी, सुखी और संपन्न होगा।

जहाँ कर्तव्य-निष्ठा और कर्मठता है, वहाँ तेजस्विता होती है। व्यक्ति समाज का प्रतिबिम्ब या प्रतिमूर्ति है। व्यक्ति का चरित्र समाज में प्रतिफलित होता है। जिस प्रकार समाज की स्थिति देखकर व्यक्ति की स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है, उसी प्रकार व्यक्ति के चरित्र का आकलन करके समाज का स्वरूप बताया जा सकता है। तेजस्विता संयम, पुरुषार्थ और पराक्रम की परिणति है। सभी वर्ण तेजस्वी हों, इसके लिए आवश्यक है कि उनमें संयम, पुरुषार्थ और पराक्रम की मात्रा अत्यधिक हो।

तेज का आधार तप हैं। जहाँ संयम, तपस्या और उदात्तचरित्रता है, वहाँ तेजस्विता होती है। अतएव तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है कि तपस्या से तेज होता है। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि तेज ही श्रद्धा है। जहाँ तेजस्विता है, वहाँ श्रद्धा की भावना जागृत होती है। यजुर्वेद का कथन है कि संयम से तेज होता है। तेजस्विता संयम और अमरत्व का सूचक है।

तेजोऽसि तपसि श्रितम्। तैत्ति० ब्रा० ३-११-१-३

तेज एव श्रद्धा। शत० ब्रा० ११-३-१-१

तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि। यजु० १-३१

टिप्पणी—(१) **रुचम्**—तेज, तेजस्विता, कान्ति, प्रकाश। रुच् (तेज) + द्वि० १। (२) **नः**—हमारे। यहाँ हमारे देश के या समाज के ब्राह्मण आदि अर्थ

है। अस्मद् (मैं) + ष० ३। अस्माकम् के स्थान पर नः है। (३) **राजसु**—राजाओं में। यहाँ राजन्य वर्ग अर्थात् क्षत्रियों से अभिप्राय है। (४) **कृधि**—करो, दो। कृ (करना, अदादि, पर०) + लोट् म० १। हि को धि आदेश। (५) **विश्येषु**—वैश्यों में। यहाँ विश् (वैश्य) के लिए विश्य शब्द है। (६) **धेहि**—रखो, दो। धा (रखना, जुहोत्यादि, पर०) + लोट् म० १। (७) **रुचा रुचम्**—तेजयुक्त तेज दो, अर्थात् अक्षय तेज मुझे दो।

२२. सभी तेजस्वी हों

या वो देवाः सूर्ये रुचो, गोष्वश्वेषु या रुचः।
इन्द्राग्नी ताभिः सर्वाभी, रुचं नो धत्त बृहस्पते ॥

यजु० १३-२३; १८-४७

अन्वय—हे देवाः, हे इन्द्राग्नी, हे बृहस्पते, वः याः रुचः सूर्ये (सन्ति), याः रुचः गोषु अश्वेषु (सन्ति), ताभिः सर्वाभिः नः रुचं धत्त।

शब्दार्थ—(हे देवाः) हे देवो, (हे इन्द्राग्नी) हे इन्द्र और अग्नि, (हे बृहस्पते) हे बृहस्पति, (वः) तुम्हारी, (याः) जो, (रुचः) कान्ति, प्रकाश, तेज, (सूर्ये सन्ति) सूर्य में हैं, (याः) जो, (रुचः) कान्ति, तेज, (गोषु) गायों में, (अश्वेषु) घोड़ों में हैं। (ताभिः सर्वाभिः) उन सभी कान्तियों से, (नः) हमारे लिए, हममें, (रुचम्) तेज, कान्ति, (धत्त) रखो, दो।

हिन्दी अर्थ—हे देवो! हे इन्द्र और अग्नि! हे बृहस्पति! तुम्हारा जो तेज सूर्य में है, तुम्हारी जो कान्ति गायों और घोड़ों में है, उस सारे तेज से युक्त तेजस्विता हमारे अन्दर रखिए, अर्थात् हमें दीजिए।

Eng. Tr.—O Gods! O Indra and Agni! O Brihaspati! may you bestow that brilliance upon us, which exists in the sun, the cows and the horses.

अनुशीलन—इस मंत्र में देवों से प्रार्थना की गई है कि वे हमारे समाज को तेजस्विता दें। देवों की कृपा से ही वस्तुओं में तेजस्विता, कान्ति और प्रकाश

रहता है । सूर्य में तेज है, पशुओं में कान्ति है, इसी प्रकार संसार के चर-अचर में सर्वत्र तेज का प्रसार है । समाज का प्रत्येक व्यक्ति सूर्य सा तेजस्वी हो, वर्चस्वी हो और यशस्वी हो ।

तेजस्विता का आधार सत्कर्म और संयम है । संयम की पुष्टि और सत्कर्म-निष्ठा मनुष्य में तेजस्विता लाती हैं । तेजस्विता से व्यक्ति अधृष्य, अजेय और प्रबुद्ध हो जाता है । तेजस्वी समाज ही संसार का नेतृत्व करता है । तेजस्विता का महत्त्व बताते हुए महाकवि कालिदास ने कहा है कि—तेजस्वी की आयु नहीं देखी जाती है । वे अपने गुणों से अग्रगण्य होते हैं ।

तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते ॥ रघुवंश ११-१

टिप्पणी—(१) वः—तुम्हारी । युष्मद् (तू) + ष० ३ । युष्माकम् के स्थान पर वः है । (२) **रुचः**—तेज, कान्ति, दीप्ति, चमक । रुच् + प्र० ३ । (३) **नः**—हमें । अस्मद् (मैं) + च० ३ । अस्मभ्यम् के स्थान पर नः है । (४) **धत्त**—रखो, दो । धा (रखना, जुहो०, पर०) + लोट् म० ३ ।

२३. पुरुषार्थी और तेजस्वी हों

सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तो,
अयो न देवा जनिमा धमन्तः ।
शुचन्तो अग्निं वावृधन्त इन्द्रम्,
उर्वीं गव्यां परिषदं नो अक्रन् ॥

अथर्व० १८-३-२२; ऋग्० ४-२-१७

अन्वय—सुकर्माणः सुरुचः देवयन्तः देवाः अयः न जनिमा धमन्तः, अग्निं शुचन्तः, इन्द्रं वावृधन्तः, नः उर्वीं गव्यां परिषदम् अक्रन् ।

शब्दार्थ—(सुकर्माणः) उत्तम कर्म करने वाले, (सुरुचः) सुन्दर कान्ति वाले, (देवयन्तः) देवत्व के इच्छुक, आस्तिकता के इच्छुक, (देवाः) विद्वान्, (अयः न) लोहे के तुल्य, (जनिमा) अपने जन्मों को, अपने जीवन को, (धमन्तः) तपरूपी ताप से शुद्ध करते हुए, (अग्निम्) यज्ञ की अग्नि को, (शुचन्तः) प्रदीप्त करते हुए,

(इन्द्रम्) ऐश्वर्य को, (वावृधन्तः) निरन्तर बढ़ाते हुए, (नः) हमारे लिए. (उर्वीम्) विशाल, (गव्यां परिषदम्) गायों के संघ को या संगोष्ठी को, विद्वत्-संगोष्ठी को, (अक्रन्) किया।

हिन्दी अर्थ – उत्तम कर्म करने वाले, सुन्दर कान्ति-युक्त, देवत्व के इच्छुक विद्वान्, लोहार जिस प्रकार लोहे को, उसी प्रकार अपने जीवन को, तप से तपाकर शुद्ध करते हुए, यज्ञिय अग्नि को प्रदीप्त करते हुए और अपने ऐश्वर्य को निरन्तर बढ़ाते हुए, हमारे लिए विशाल गो-संघ के तुल्य संगोष्ठी (विद्वत्-संगोष्ठी) तैयार करते हैं।

Eng. Tr.—The wise-men, performing good deeds, glorious, desirous of attaining divinity, purifying themselves by the penances, as a blacksmith purifies the iron, kindling the sacrificial fire, increasing their wealth, may grant us a grand assembly like that of the cows.

अनुशीलन—इस मंत्र में समाज को तेजस्वी बनाने के साधनों का वर्णन है। ये साधन हैं—१. सत्कर्मों को करना, २. आस्तिकता, ३. कठोर साधना, ४. यज्ञ करना।

मंत्र में सुरुचः के द्वारा समाज को तेजस्वी बनाने का लक्ष्य रखा गया है। इसके लिए सर्वप्रथम आवश्यकता है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति 'सुकर्माणः' अच्छे कर्म करने वाले हो। अच्छे कर्मों का संस्कार समाज में बचपन से ही जागृत किया जा सकता है। इसका मुख्य उत्तरदायित्व माता-पिता पर है और तत्पश्चात् गुरुओं पर।

तेजस्विता का दूसरा साधन है—आस्तिकता, देवभक्ति या उपासना। देवों के प्रति निष्ठा या भक्ति से आस्तिकता आती है। यह आस्तिकता ही चरित्र-निर्माण में सहायक होती है।

तीसरा साधन है—कठोर साधना। इसके लिए मंत्र में उदाहरण दिया गया है कि जिस प्रकार लोहे को आग में तपाकर शुद्ध करते हैं, उसी प्रकार अपने जीवन

को साधना की भट्टी में डालकर शुद्ध करें। जिस प्रकार लोहा आग में पड़कर अग्निमय और तेजोमय हो जाता है, इसी प्रकार साधना से जीवन को तेजस्वी बनावें।

चतुर्थ साधन बताया गया है—यज्ञ करना। यज्ञ की अग्नि को बढ़ावें अर्थात् समाज में यज्ञ का प्रचार करें। समाज को संगठित करने का सबसे उत्तम उपाय यज्ञ है) समाज के सभी वर्गों के व्यक्ति यज्ञ में आ सकते हैं। इस सामूहिक यज्ञ में जो भी समाज-सेवा, परोपकार आदि की बातें कही जाएँगी, वे सभी घरों तक पहुँचेंगी। इस प्रकार समाज का शुद्धिकरण होगा और सामाजिक कुरीतियों के निवारण से समाज में तेजस्विता आएगी।

टिप्पणी (१) सुकर्माणः—उत्तम कर्म करने वाले। सुकर्मन् + प्र० ३। (२) **सुरुचः**—सुन्दर कान्ति वाले। सुरुच् + प्र० ३। (३) **देवयन्तः**—देवत्व की कामना वाले। देव + नामधातु य + शतृ + प्र० ३। (४) **अयः न**—अयः-लोहा, न-जैसे। लोहार जैसे लोहे को तपाकर शुद्ध करता है, उसी प्रकार अपने जीवन को तप से पवित्र करने वाले। (५) **देवाः**—विद्वान्। (६) **जनिमा**—जनिमानि का संक्षिप्त रूप है। जनिमन् = जन्मन्, जन् + मन् प्रत्यय + द्वि० ३। अपने जीवन को। (७) **धमन्तः**—तपा कर शुद्ध करते हुए। ध्मा (धम्, तपाना, भ्वादि) + शतृ + प्र० ३। (८) **शुचन्तः**—प्रदीप्त करते हुए। शुच् (जलाना, भ्वादि) + शतृ प्र० ३। (९) **वावृधन्तः**—निरन्तर बढ़ाते हुए। वृध् (बढ़ाना) + यङ्लुक् + शतृ = वावृधत् + प्र० ३। (१०) **इन्द्रम्**—ऐश्वर्य को, समृद्धि को। (११) **गव्यां परिषदम्**—गायों के संघ या सभा को। यहाँ गोसंघ के तुल्य विद्वानों की गोष्ठी भाव है। (१२) **अक्रन्**—किया, तैयार किया। कृ (करना, तनादि) + लुङ् प्र० ३। Root Aorist है।

२४. उत्तम ज्योति प्राप्त हो

आ रोहत दिवमुत्तमाम्, ऋषयो मा बिभीतन।
सोमपाः सोमपायिनः, इदं वः क्रियते हविः,
अगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥

अथर्व० १८-३-६४

अन्वय—हे ऋषयः, उत्तमां दिवम् आ रोहत । मा बिभीतन । हे सोमपाः, हे सोमपायिनः, वः इदं हविः क्रियते । (वयम्) उत्तमं ज्योतिः अगन्म ।

शब्दार्थ—(हे ऋषयः) हे मन्त्रदर्शी ऋषियो, (उत्तमां दिवम्) तुम उत्तम द्युलोक में, (आ रोहत) चढो, जावो । (मा) मत, (बिभीतन) डरो, भयभीत हो । (हे सोमपाः) हे सोमपान करने वाले, (हे सोमपायिनः) हे सोमरस पिलाने वाले, (वः) तुम्हारे लिए, (इदं हविः) यह हवि, (क्रियते) हम करते हैं, डालते हैं । (उत्तमं ज्योतिः) जिससे हम उत्तम ज्योति को, (अगन्म) प्राप्त कर सकें ।

हिन्दी अर्थ—हे मन्त्रदर्शी ऋषियो ! तुम उत्तम द्युलोक को जाओ । भयभीत न हो । हे सोमरस का पान करने वालो तथा हे सोमरम का पान कराने वाले ऋषियो ! तुम्हारे लिए हम यह हवि देते हैं, जिससे हम उत्तम ज्योति को प्राप्त कर सकें ।

Eng. Tr.—O Seers ! may you ascend the highest heaven. Don't fear. O Seers, the Soma-drinkers and Soma-offerers ! we offer oblations to you, so that we may attain the highest glory.

अनुशीलन—इस मंत्र में उत्तम ज्योति की कामना की गई है । इस उत्तम ज्योति के लिए ही यज्ञ किया जाता है । ऋषियों ने यज्ञ किया और इसके फलस्वरूप उन्हें द्युलोक में उत्तम स्थान मिला । वे भय से मुक्त हो गए ।

समाज के कल्याण के लिए उत्तम ज्योति या दिव्य ज्योति चाहिए । दिव्य ज्योति क्या है ? आत्म-निष्ठता, आत्मदर्शन या तत्त्वज्ञान दिव्य ज्योति है । इस जीवन में मनुष्य परमात्मा का दर्शन कर सके, यह अत्यन्त गौरव की बात है । आत्म-दर्शन ही ज्योति-दर्शन है । परमात्मा प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में ज्योति रूप में विद्यमान है । साधना, योग और भक्ति, सबका लक्ष्य है—उस ज्योति का दर्शन करना । यह ज्योति जब जिसके हृदय में जग जाती है, उस समय से वह प्रबुद्ध, प्रकाशवान् और विवेकशील हो जाता है । प्रबुद्धता इस ज्योति के जागरण पर निर्भर है । यह ज्योति सर्वोत्तम है, अतः इसे उत्तम ज्योति कहा गया है ।

यज्ञ और उपासना के द्वारा ऋषिगण इस ज्योति को जगाते हैं। जो इसको जगा लेते हैं, उनके हृदय की पाप-वासना स्वयं नष्ट हो जाती है। जब पाप या पाप-वासना नहीं रहेगी, तब भय भी स्वयं समाप्त हो जाएगा।

टिप्पणी—(१) **आरोहत**—चढ़ो। आ + रुह् (चढ़ना, भ्वादि, पर०) + लोट् म० ३। (२) **मा बिभीतन**—मत डरो। भी (डरना, जुहो०, पर०) + लोट् म० ३। त को तन आदेश। (३) **सोमपाः**—सोमरस पीने वाले। सोम + पा + क (अ) = सोमप + प्र० ३। (४) **सोमपायिनः**—सोमरस पिलाने वाले। सोम + पा (पीना) + णिच् + णिनि (इन्) = सोमपायिन् + प्र० ३। (५) **क्रियते**—की जाती है, दी जाती है। कृ (करना, तनादि) + कर्मवाच्य य + लट् प्र० १। (६) **अगन्म**—गए, प्राप्त किया। गम् (जाना, भ्वादि, पर०) + लुङ् उ० ३।

२५. ज्योति मिले और अमर हों

सत्रस्य ऋद्धिरस्यगन्म ज्योतिरमृता अभूम।
दिवं पृथिव्या अध्यारुहाम-अविदाम देवान् स्वर्ज्योतिः ॥

यजु० ८-५२

अन्वय—सत्रस्य ऋद्धिः असि, ज्योतिः अगन्म, अमृताः अभूम। पृथिव्याः दिवम् अध्यारुहाम, देवान् अविदाम, स्वः ज्योतिः (अविदाम)।

शब्दार्थ—(सत्रस्य) यज्ञ की, आत्मत्याग की, (ऋद्धिः) समृद्धि या सिद्धि, (असि) हो। (ज्योतिः) प्रकाश या तेज को, (अगन्म) हम प्राप्त हुए। (अमृताः अभूम) हम अमर हो गए। (पृथिव्याः) पृथिवी से, (दिवम्) द्युलोक को, (अधि आरुहाम) चढ़े, गए। (देवान्) देवों को, (अविदाम) प्राप्त किया। (स्वः ज्योतिः अविदाम) स्वर्गीय या दिव्य ज्योति को पाया।

हिन्दी अर्थ—यज्ञ की (या आत्म-त्याग की) यह सिद्धि है कि हमें ज्योति (प्रकाश, तेज) प्राप्त हुई और हम अमर हो गए। पृथिवी से द्युलोक को गए, देवों को पाया और दिव्य ज्योति को हमने पाया।

Eng. Tr.—It is the resultant of the self-sacrifice, that we couldattain the lustre and became immortals. We ascended

from the earth to the heaven, perceived the Gods and attained the divine light.

अनुशीलन—इस मंत्र में भी दिव्य ज्योति की कामना की गई है। ज्योति की प्राप्ति का साधन बताया गया है—आत्मत्याग। आत्मत्याग से ज्योति की प्राप्ति होती है। उसका फल यह है कि वह भौतिकता से ऊपर उठता है और अध्यात्म-रूपी ज्योति को प्राप्त करता है।

इस मंत्र में आत्म-त्याग, स्वार्थभावना-परित्याग या आत्म-बलिदान को सिद्धि बताया गया है। इससे ज्योति मिलती है और ज्योति से अमरत्व या मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष या अमरता जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य है। इसके लिए सर्व-प्रथम स्वार्थभावना का परित्याग करना अनिवार्य है। जहाँ स्वार्थभावना या स्वार्थवृत्ति है, वहाँ किसी प्रकार की ऋद्धि-सिद्धि की आशा ही नहीं की जा सकती है। सत्र या यज्ञ इसी स्वार्थभावना के परित्याग का सूचक है। यज्ञ में पड़ी हुई सामग्री या घृत किसी व्यक्तिविशेष का न होकर सार्वजनिक हो जाता है। यह 'इदं न मम' यज्ञ की भावना ही है। इसको ही आत्म-त्याग या आत्म-बलिदान की भावना कहते हैं। यह आत्म-त्याग की भावना मनुष्य को देवत्व की ओर ले जाती है। यह देवत्व दिव्य ज्योति का दर्शन कराता है। इसका ही मंत्र में वर्णन है कि पृथिवी से द्युलोक को गए। द्युलोक में देवों के दर्शन हुए और वहाँ दिव्य ज्योति प्राप्त हुई। इस दिव्य ज्योति से ही अमरत्व प्राप्त होता है।

टिप्पणी—(१) **सत्रस्य**—यज्ञ की, आत्मत्याग की। सत्र का अर्थ यज्ञ और आत्मत्याग है। 'सत्रम् आच्छादने यज्ञे' इत्यमरः। 'आत्मदक्षिणं वै सत्रम्,' कौषीतकि ब्रा० १५-१। 'आत्मदक्षिणं वा एतद् यत् सत्रम्' तांड्य ब्रा० ४-९-१९। आत्मत्याग आत्म-बलिदान या आत्म-समर्पण सत्र है। इससे ज्योति, दिव्य तेज, अमरत्व मिलता है। (२) **ऋद्धिः**—सिद्धि, सफलता, समृद्धि। (३) **अगन्म**—हमने पाया। गम् (जाना, भ्वादि, पर०) + लुङ् + उ० ३। (४) **अमृताः**—अमर। (५) **अभूम**—हो गए। भू (होना, भ्वादि) + लुङ् + उ० ३। (६) **अधि आरुहाम**—चढ़े, गए। आ + रुह् (चढ़ना, भ्वादि०) + लुङ् उ० ३। (७) **अविदाम**—पाया। विद् (पाना, तुदादि, पर०) + लुङ् उ० ३। (८) **स्वः ज्योति**—स्वर्गीय ज्योति या दिव्य ज्योति।

२६. शुभ कर्मों में प्रवृत्ति हो

अकर्म ते स्वपसो अभूम,
ऋतमवस्रन् उषसो विभातीः ।
विश्वं तद् भद्रं यदवन्ति देवा,
बृहद् वदेम विदथे सुवीराः ॥

अथर्व० १८-३-२४; ऋग्० ४-२-१९

अन्वय—ते अकर्म, स्वपसः अभूम, विभातीः उषसः ऋतम् अवस्रन् । यद् देवाः अवन्ति, तद् विश्वं भद्रम् । सुवीराः विदथे बृहद् वदेम ।

शब्दार्थ—(ते) तेरे लिए, (अकर्म) हमने कर्म किया । (स्वपसः) सुन्दर कर्मों के करने वाले, (अभूम) हम हो गए । (विभातीः) तेजोमय, प्रकाशयुक्त, (उषसः) उषाएं, (ऋतम्) प्राकृतिक नियमों के अनुसार, (अवस्रन्) चमकीं । (यद्) जो, (देवाः) देवगण, (अवन्ति) रक्षा करते हैं, या देवता जो कुछ करते हैं, (तद् विश्वम्) वह सब कुछ, (भद्रम्) कल्याणकारी है, (सुवीराः) उत्तम वीरता से युक्त हम, (विदथे) यज्ञ में, शास्त्रार्थ में, शास्त्रचर्चा में, (बृहद्) बहुत, अधिक, (वदेम) बोलें ।

हिन्दी अर्थ—हे परमात्मन् ! हमने तुम्हारे लिए कर्म किया और हम सत्कर्म करने वाले हुए। तेजोमय उषाएं प्राकृतिक नियमों के अनुसार चमकती हैं । देवगण जो कुछ हमारी रक्षा करते हैं, वह सब कुछ हमारे लिए कल्याणकारी (शुभ) है। हम उत्कृष्ट वीरता से युक्त होकर यज्ञों में (शास्त्रार्थों में) विस्तार से बोलें ।

Eng. Tr.—O God ! we performed good deeds for you and we became righteous. The brilliant dawns shine according to the natural laws. The guidance provided by the gods is beneficial to us. We, the braves, may take part in academic discussions.

अनुशीलन—इस मंत्र में दो उत्तम शिक्षाएँ दी गई हैं। ये हैं—१. सदा शुभ कर्मों में प्रवृत्त हों, २. परमात्मा जो कुछ करता है, अच्छा करता है।

मंत्र का कथन है कि हमने अच्छे कर्म किए और हम शुभकर्म कर्ता या सत्कर्मी हो गए। कर्म मनुष्य की उन्नति और अवनति का आधार है। प्रत्येक प्रकार की सफलता और असफलता का आधार कर्म है। कर्म उठाता है और गिराता है। जो कर्म ऋत के अनुसार है, वह उठाता है। जो कर्म अनृत के अनुसार है, वह गिराता है। अतएव उदाहरण देकर मंत्र में बताया गया है कि उषा ऋत या प्राकृतिक नियम का पालन करती है, अतः उसमें तेज और प्रकाश है। जो ऋत को छोड़कर अनृत को अपनाते हैं, उनके लिए पतन, विनाश और घोर अंधकार है। मंत्र की शिक्षा है कि उषा के तुल्य ऋत का आश्रय लें। सदा सत्कर्म में प्रवृत्त हों और तेजस्वी हों।

मंत्र की दूसरी शिक्षा है कि—परमात्मा या देव जो कुछ भी करते हैं, वह मनुष्य की भलाई के लिए ही करते हैं। उनकी रक्षा मनुष्य के लिए कल्याणकारी है। मनुष्य कर्म-बन्धन में पड़ा हुआ यह भूल जाता है कि उसकी इस समय जो स्थिति है, वह उसके कर्मों का ही फल है। 'प्रारब्ध' का अर्थ है कि—ऐसा हमने किया है। अब जो कुछ भुगत रहे हैं, वह हमारे पूर्वकृत कर्मों का फल है। उसको सहना ही पड़ेगा। यदि सत्कर्म ही करते हैं तो उसका फल शुभ होता है। सत्कर्म जीवन-रक्षक तत्त्व है। सत्कर्म संकट में भी जीवन की रक्षा करते हैं। अतएव गीता में कहा है कि—सत्कर्म का थोड़ा भी अंश बड़े संकटों से बचाता है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति, प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य, त्रायते महतो भयात्।। गीता २-४०

टिप्पणी—(१) **अकर्म**—किया, कर्म किया। कृ (करना, तनादि, पर०) + लुङ् उ० ३। Root Aorist है। (२) **ते**—तेरे लिए। तुभ्यम् के स्थान पर ते है। युष्मद् + च० १। (३) **स्वपसः**—सु–अच्छे, अपसः–कर्म वाले। अपस् का अर्थ कर्म है। (४) **अभूम**—हम हुए। भू (होना, भ्वादि, पर०) + लुङ् उ० ३। (५) **ऋतम्**—ऋत को, प्राकृतिक नियमों के अनुसार। (६) **अवस्रन्**—चमकीं।

वस् (चमकना, तुदादि, पर०) + लुङ् प्र० ३ । र् का आगम है । (७) **विभातीः**— चमकती हुई, तेजोमय । वि + भा (चमकना, अदादि) + शतृ + ङीप् (ई) + प्र० ३ । (८) **अवन्ति**—रक्षा करते हैं । अव् (रक्षा करना, भ्वादि) + लट् प्र० ३ । (९) **वदेम**—बोलें । वद् (बोलना, भ्वादि, पर०) + विधि० + उ० ३ । (१०) **विदथे**—यज्ञों में, शास्त्रार्थों में या शास्त्रचर्चाओं में ।

२७. शुभ कर्मों से दीर्घ आयु

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥

यजु० २५-२१; ऋग्० १-८९-८;
साम० १८७४; तैत्ति० आर० १-१-१

अन्वय—यजत्राः देवाः, कर्णेभिः भद्रं शृणुयाम, अक्षभिः भद्रं पश्येम, स्थिरैः अङ्गैः तुष्टुवांसः, तनूभिः देवहितं यत् आयुः (तत्) व्यशेमहि ।

शब्दार्थ—(यजत्राः) हे पूजनीय, (देवाः) देवो, हम, (कर्णेभिः) दोनों कानों से, (भद्रम्) शुभ, मंगलमय, (शृणुयाम) सुनें । (अक्षभिः) आँखों से, (भद्रम्) शुभ वस्तु, (पश्येम) देखें । (स्थिरैः) दृढ़, पुष्ट, (अङ्गैः) अंगों से, (तुष्टुवांसः) स्तुति करते हुए, स्तुतिकर्ता, (तनूभिः) अपने शरीरों से, (देवहितम्) देवों द्वारा निर्धारित या देवों के लिए हितकर, (यत् आयुः) जो आयु है, उसे, (व्यशेमहि) पावें ।

हिन्दी अर्थ—हे पूजनीय देवो ! हम दोनों कानों से शुभ वचन सुनें, दोनों आखों से शुभ वस्तु देखें, हृष्ट-पुष्ट अंगों से स्तुति करते हुए, शरीर के द्वारा देवों के लिए हितकर दीर्घ आयु प्राप्त करें ।

Eng. Tr.—O holy Gods ! may we ever hear with our

ears auspicious words. May we ever see with our eyes pleasing things. May we attain, simultaneously, good health and prosperous long life.

अनुशीलन--प्रत्येक मनुष्य की कामना है कि उसका जीवन पूर्ण सुखी हो, वह पूर्णतया नीरोग हो और शतायु हो। परन्तु इस इच्छा की पूर्ति के लिए कुछ नियमों का पालन करना अनिवार्य है। ये नियम सरल और कठोर दोनों हैं। यदि आपके विचार सुलझे हुए हैं, मन वश में है, इन्द्रियों पर अधिकार है और सात्त्विक भाव जागृत हैं, तो आपको ये नियम सरल लगेंगे। यदि आपकी चित्त-वृत्तियाँ विशृंखल हैं तो ये नियम कठोर लगेंगे। परन्तु इस कठोर अनुशासन का पालन किए बिना सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस मन्त्र में इन्हीं नियमों का उल्लेख है—(१) कान से अच्छी बातें सुनें। जब अच्छी बातें सुनेंगे, मन प्रसन्न रहेगा, राग-द्वेष का हृदय में स्थान नहीं होगा और जीवन में पवित्रता रहेगी। (२) आँख से अच्छी चीजें देखें। जब हमारी दृष्टि में कुवासना, दूषित मनोवृत्ति नहीं होगी तो हमें सब मित्र, सहयोगी और प्रिय दिखाई देंगे। इससे घृणा, कटुता, मात्सर्य और मनोमालिन्य का अवसर नहीं मिलेगा। इन दोनों नियमों के पालन से संयम की पुष्टि होगी, शरीर स्वस्थ रहेगा, मन प्रसन्न रहेगा। जब शरीर स्वस्थ होगा और मन प्रसन्न रहेगा तो दीर्घ आयु स्वयं प्राप्त होगी।

टिप्पणी—(१) **कर्णेभिः**—कानों से। कर्ण + तृ० ३। द्विवचन के अर्थ में बहुवचन है। (२) **शृणुयाम**—सुनें। श्रु + विधिलिङ् उ० ३। (३) **पश्येम**—देखें। दृश् + विधिलिङ् उ० ३। (४) **अक्षभिः**—आँखों से। अक्षिभिः के स्थान पर अक्षभिः है। द्विवचन के स्थान पर बहुवचन है। (५) **यजत्राः**—यजनीय, पूजनीय। (६) **तुष्टुवांसः**—जिन्होंने स्तुति की है। स्तुतिकर्ता। स्तु + लिट्—क्वसु (वस्) = तुष्टुवस् + प्रथमा बहु०। (७) **व्यशेमहि**—पावें। वि + अश् (पाना) + विधिलिङ् उ० ३। (८) **देवहितम्**—देवों के लिए हितकर या देवों के द्वारा निर्धारित। हित—धा + क्त (त)।

२८. ऋत और सत्य संसार के धारक

सत्यं बृहद् ऋतमुग्रं दीक्षा तपो,
ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी,
उरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥

अथर्व० १२-१-१

अन्वय—बृहत् सत्यम्, उग्रम् ऋतम्, दीक्षा, तपः, ब्रह्म, यज्ञः, पृथिवीं धारयन्ति । सा पृथिवी नः भूतस्य भव्यस्य पत्नी, नः उरुं लोकं कृणोतु ।

शब्दार्थ—(बृहत् सत्यम्) महान् सत्य, (उग्रम् ऋतम्) प्रचण्ड या अटल प्राकृतिक नियम, (दीक्षा) कर्तव्य-निष्ठा, (तपः) तपस्या, शारीरिक वाचिक और मानसिक संयम, (ब्रह्म) ज्ञान, आस्तिकता, (यज्ञः) यज्ञ करना, (पृथिवीम्) पृथिवी को, (धारयन्ति) धारण करते हैं। (सा पृथिवी) वह पृथिवी, (नः) हमारे, (भूतस्य) अतीत की, (भव्यस्य) वर्तमान एवं भविष्य की, (पत्नी) पालन करने वाली है। (नः) हमारे लिए, (उरुम्) विशाल, (लोकम्) लोक, स्थान, समाज या राष्ट्र, (कृणोतु) करे, प्रदान करे ।

हिन्दी अर्थ—महान् सत्य, अटल प्राकृतिक नियम, कर्तव्य-निष्ठा, तप (संयम), ज्ञान (आस्तिकता) और यज्ञ, ये ६ गुण पृथिवी को धारण करते हैं। वह पृथिवी हमारे अतीत, वर्तमान और भविष्य की रक्षा करने वाली है। वह हमारे लिए विशाल स्थान प्रदान करे।

Eng. Tr.—The great truth, the unchangeable natural laws, consecration, penance, knowledge and sacrifice sustain the earth. The earth always protects us. May she provide a vast space for us.

अनुशीलन—यह अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मंत्र है, इसमें स्पष्ट किया गया है कि इन ६ तत्त्वों से ही पृथिवी रुकी हुई है। इनमें जब

भी विकार आता है तो पृथिवी पर अनर्थ होते हैं। ये ६ तत्त्व हैं—सत्य, ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ।

अथर्ववेद में सत्य और ऋत को संसार का धारक बताया है। सत्य से पृथिवी रुकी हुई है और ऋत से सूर्य रुका हुआ है।

सत्येनोत्तभिता भूमिः०। ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति० ॥ अथर्व० १४-१-१

आचार्य चाणक्य ने भी यही भाव प्रकट किया है कि सत्य ही संसार का धारक है।

सत्येन धार्यते लोकः। चा० सूत्र ४१९

मंत्र में सत्य को महान् और ऋत को उग्र कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि ऋत और सत्य संसार की सबसे बड़ी शक्तियाँ हैं। सूर्य, चन्द्र और पृथिवी भी इनकी आज्ञा के अनुसार चलते हैं। एक क्षण के लिए भी ये ऋत की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते हैं। मनुष्य की तो शक्ति ही नहीं कि इनके विरुद्ध कार्य करके जीवित रह सके।

दीक्षा का अभिप्राय है—किसी व्रत को लेकर उस पर अडिग रहना। एकाग्र या तन्निष्ठ होकर उस व्रत का पालन करते रहने से उसमें विशेष योग्यता जागृत होती है। तप का अभिप्राय संयम है। अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना तप है।

तपःसार इन्द्रियनिग्रहः। चा० सूत्र ४७५

इस तप या संयम से समाज की व्यवस्था सुचारु रूप से चलती है। असंयम असामाजिक तत्त्वों की वृद्धि करता है और अनाचार का कारण है। ब्रह्म का अभिप्राय ईश्वर-विश्वास और आस्तिकता है। जहाँ ईश्वर-विश्वास है, वहाँ उत्साह, पुरुषार्थ और प्रगति है। आस्तिकता से पापों का निरोध होता है। इससे अनुचित कार्यों के प्रति घृणा का भाव बना रहता है और विश्वबन्धुत्व का भाव जागृत होता है। यज्ञ सृष्टि-चक्र का नियामक तत्त्व है। संसार में प्राकृतिक यज्ञ सृष्टि के आरम्भ से चल रहा है। सामान्य यज्ञ उसी का प्रतीक है। इससे परिवार, समाज और राष्ट्र की उन्नति होती है।

टिप्पणी—(१) **बृहत् सत्यम्**—महान् सत्य, सत्यभाषण, प्राकृतिक नियमों का क्रियात्मक रूप । (२) **उग्रम ऋतम्**—प्रचंड या अटल प्राकृतिक नियम । शाश्वत नियमों को ऋत कहते हैं । (३) **दीक्षा**—कर्तव्यनिष्ठा । किसी प्रकार का कोई दृढ़ संकल्प दीक्षा है । (४) **तपः**—तपस्या । शारीरिक वाचिक और मानसिक संयम तप है । (५) **ब्रह्म**—ज्ञान, आस्तिकता । ईश्वर के अस्तित्व का निरन्तर स्मरण करना । (६) **यज्ञः**—यज्ञ या यज्ञ करना, दान और त्याग भी यज्ञ हैं । (७) **धारयन्ति**—धारण करते हैं । धृ (धारण करना, भ्वादि) + णिच् + प्र० ३ । (८) **भव्यस्य**—वर्तमान और भविष्य की । भव्य के दोनों अर्थ हैं—भविष्य और वर्तमान । (९) **पत्नी**—पालक, रक्षक । यहाँ स्त्री अर्थ नहीं है । (१०) **उरुं०**—विशाल स्थान या राष्ट्र । (११) **कृणोतु**—करे । कृ (करना, स्वादि, पर०) + लोट् प्र० १ ।

२९. सत्य का व्रत लें

व्रतेन दीक्षामाप्नोति, दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति, श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥

यजु० १९-३०

अन्वय—व्रतेन दीक्षाम् आप्नोति । दीक्षया दक्षिणाम् आप्नोति । दक्षिणा श्रद्धाम् आप्नोति । श्रद्धया सत्यम् आप्यते ।

शब्दार्थ—(व्रतेन) व्रत के द्वारा, किसी निश्चित विचार या संकल्प से, (दीक्षाम्) दीक्षा को, कर्तव्यनिष्ठा को, (आप्नोति) प्राप्त होता है । (दीक्षया) दीक्षा या कर्तव्यनिष्ठा से, (दक्षिणाम्) दाक्षिण्य, चतुरता या कुशलता को, (आप्नोति) प्राप्त होता है । (दक्षिणा) दक्षिणा से, चतुरता या कुशलता से, (श्रद्धाम्) श्रद्धा को, आस्तिकता या आस्तिक्य बुद्धि को, (आप्नोति) प्राप्त होता है । (श्रद्धया) श्रद्धा से, (सत्यम्) सत्य या सत्यस्वरूप ब्रह्म, (आप्यते) प्राप्त होता है ।

हिन्दी अर्थ—व्रत (संकल्प) से दीक्षा (कर्तव्यनिष्ठा) को प्राप्त होता है । दीक्षा से दक्षिणा या दाक्षिण्य (चतुरता) को प्राप्त होता है । दक्षिणा

(दाक्षिण्य) से श्रद्धा (आस्तिक्य बुद्धि) को प्राप्त करता है। श्रद्धा से सत्य (ब्रह्म) की प्राप्ति होती है।

Eng. Tr.—By observing a vow one attains consecration. By consecration one achieves efficiency. By efficiency one attains faith and by faith one realises the Supreme Being.

अनुशीलन—इस मंत्र में बताया गया है कि किस प्रकार व्रत लेकर सत्य-स्वरूप ब्रह्म तक पहुँच सकते हैं। व्रत का क्या महत्त्व है ? व्रत क्यों लेना चाहिए ? व्रती और व्रतहीन में क्या अन्तर है ?

व्रत एक शिव-संकल्प है। किसी भी शुभकर्म के लिए शुद्ध हृदय से यह निर्णय करना पड़ता है कि इस कार्य को अवश्य करेंगे। जीवन का कोई उत्कृष्ट लक्ष्य हो, उसकी पूर्ति के लिए व्रत लेना अनिवार्य है। व्रत दृढ़ निश्चय की ओर प्रेरणा देता है। यह दृढ़ निश्चय कार्य को सिद्ध करता है। जो व्रत नहीं लेते, या व्रत तोड़ देते हैं, वे जीवन में किसी भी कार्य में सफल नहीं हो सकते हैं। व्रत प्रगति का मार्ग है और व्रतहीनता अवनति का। व्रत से पवित्रता और जीवन शुद्धि होती है। व्रत-हीनता से अनिर्णय, अनिश्चय और किंकर्तव्य विमूढता की स्थिति रहती है। अतएव शास्त्रों में व्रत को इतना महत्त्व दिया गया है।

मंत्र का कथन है कि व्रत से मनुष्य दीक्षा प्राप्त करता है। व्रत लेने वाला दीक्षायुक्त या दीक्षित होता है। इसका अभिप्राय यह है कि व्रत लेने वाला उस कार्य में अपना सारा समय लगाता है। उसी कार्य की सदा चिन्ता करता है और उसी कार्य को अपना लक्ष्य मानता है। अतएव मंत्र में कहा गया है कि दीक्षा से दक्षिणा प्राप्त करता है। दक्षिणा का अर्थ है—दाक्षिण्य, दक्षता या चतुरता। जो जिस काम में लगा रहता है, वह उस कार्य में निपुण हो जाता है। दक्षिणा या दक्षता से उस विषय में श्रद्धा उत्पन्न होती है। जिस कार्य में विशेष योग्यता प्राप्त हो जाती है, उसमें स्वयं श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। इस श्रद्धा का फल है सत्य या सत्यस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति। परमात्मा तक पहुँचने का यही मार्ग है। उसकी प्राप्ति के लिए व्रत लें; व्रत से दीक्षित हों; दीक्षा से उस मार्ग पर प्रगति करें, फिर श्रद्धा बढ़े और श्रद्धा से आत्मसाक्षात्कार करें।

टिप्पणी—(१) **व्रतेन**—व्रत से । किसी संकल्प, निश्चय, प्रतिज्ञा या आचार संबन्धी नियम को व्रत कहते हैं । (२) **दीक्षाम्**—दीक्षा को । अपने व्रत या संकल्प पर एकाग्रता या निष्ठा को दीक्षा कहते हैं । (३) **आप्नोति**—प्राप्त करता है । आप् (पाना, स्वादि, पर०) + लट् प्र० १ । (४) **दक्षिणाम्**—दक्षिणा को । किसी भी कार्य में निपुणता प्राप्त कर लेना दक्षिणा या दाक्षिण्य है । (५) **दक्षिणा**—दक्षिणा या दाक्षिण्य से, चतुरता से । दक्षिणा + तृ० १ । दक्षिणया का संक्षिप्त रूप दक्षिणा है । (६) **श्रद्धाम्**—श्रद्धा को । श्रत् + धा । श्रद्धा का अर्थ है—श्रत् (सत्य) को, धा–धारण करना । अतः श्रद्धा का अर्थ होता है—आस्तिकता या आस्तिक्य बुद्धि । (७) **सत्यम्**—सत्य । ब्रह्म सत्यस्वरूप है, अतः सत्यम् से ब्रह्म अर्थ लिया गया है । (८) **आप्यते**—पाया जाता है । आप् (पाना, स्वादि) + कर्मवाच्य में यक् (य) + लट् प्र० १ ।

३०. सत्य से जागृति

तेन सत्येन जागृतम्, अधि प्रचेतुने पदे ।
इन्द्राग्नी शर्म यच्छतम् ।

ऋग्० १-२१-६

अन्वय—हे इन्द्राग्नी, तेन सत्येन प्रचेतुने पदे अधिजागृतम् । शर्म यच्छतम् ।

शब्दार्थ—(हे इन्द्राग्नी) हे इन्द्र और अग्नि, (तेन) उस, (सत्येन) सत्य से, (प्रचेतुने) चेतना के योग्य, सावधानी के योग्य, (पदे) स्थान पर, (अधि जागृतम्) जागते रहो, सावधान रहो । (शर्म) सुख, कल्याण, (यच्छतम्) दो ।

हिन्दी अर्थ—हे इन्द्र और अग्नि देवो ! उस सत्य के द्वारा चेतना (सावधानी) के योग्य स्थानों पर तुम दोनों जागते रहो और हमें सुख दो ।

Eng. Tr.—O Indra and Fire-God ! may both of you remain ever alert on the sensitive places by means of truthfulness and confer welfare on us.

अनुशीलन—इस मंत्र में बताया गया है कि सत्य से जागृति होती है। सत्य प्रेरक तत्त्व हैं, सत्य अनश्वर है, सत्य शाश्वत जीवन है। जहाँ सत्य है, वहाँ प्रकाश है, वहाँ विवेक है और वहाँ आस्तिकता और दृढ़-निश्चय हैं।

मंत्र में इन्द्र और अग्नि देवों से प्रार्थना की गई है कि वे चेतना के अवसरों पर सत्य से जागृति दें। 'प्रचेतुने पदे' के द्वारा संकेत किया गया है कि जब धर्मसंकट हो, कर्तव्य-अकर्तव्य का अनिश्चय हो, अज्ञान प्रबल हो, उस समय इन्द्र-अग्नि हमें ज्ञान दें, प्रवुद्ध करें। उस समय हमारा विवेक जागृत हो, जिससे सत्य के मार्ग को न छोड़ें। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राण-अपान या बल-ओज को इन्द्राग्नी कहा है। प्राण-अपान जीवन के आधार हैं। ज्योंही ये छोड़ते हैं, मनुष्य की मृत्यु होती है। इसी प्रकार बल-ओज की सत्ता शरीर में इन्द्र-अग्नि की सत्ता है। ये इन्द्राग्नी जीवन भर मार्ग-दर्शन करते हैं।

> प्राणापानौ वा इन्द्राग्नी। गोपथ ब्रा० आर० २-१
> ओजो बलं वा एतौ देवानां यद् इन्द्राग्नी ।। तैत्ति० ब्रा० १-६-४-४

महाभारत के शान्तिपर्व में बताया गया है कि सत्य के अतिरिक्त और कोई साधन सिद्धि नहीं दे सकता है। इसलिए सत्यवादी राजा दोनों लोकों में सुख पाता है। जो संकट में होने पर भी सत्य ही बोलते हैं, वे ही संसार में सर्वश्रेष्ठ होते हैं। संसार में सत्य से बढ़ कर और कोई वस्तु नहीं है।

> नहि सत्याद् ऋते किंचिद्, राज्ञां वै सिद्धिकारकम्।
> सत्ये हि निरतो राजा, प्रेत्य चेह च नन्दति ।। महा० शान्ति० ५६-१७
> न सत्याद् विद्यते परम्। महा० शान्ति० १०९-४

टिप्पणी—(१) **सत्येन**—सत्य के द्वारा। सत्य व्यवहार और सत्य भाषण के द्वारा। (२) **जागृतम्**—जागते रहो, सावधान रहो। जागृ (जागना, अदादि, पर०) + लोट् म० २। (३) **प्रचेतुने पदे**—चेतना या चौकसी के स्थान पर। प्र + चेतुन + स० १। (४) **शर्म**—सुख, कल्याण। शर्मन् + द्वि० १। (५) **यच्छतम्**—तुम दोनों दो। यच्छ् (देना, भ्वादि, पर०) + लोट् म० २।

३१. सत्यभाषी का मार्ग प्रशस्त

सुगः पन्था अनृक्षर, आदित्यास ऋतं यते ।
नात्रावखादो अस्ति वः ॥

ऋग्० १-४१-४

अन्वय--हे आदित्यासः, ऋतं यते पन्थाः सुगः अनृक्षरः । अत्र वः अवखादः न अस्ति ।

शब्दार्थ--(हे आदित्यासः) हे आदित्य देवो, (ऋतम्) सत्यमार्ग पर, प्राकृतिक नियमों पर, (यते) चलने वाले के लिए, (पन्थाः) मार्ग, (सुगः) सुगम, (अनृक्षरः) निष्कंटक, विघ्नरहित होता है। (अत्र) इसमें, इस मार्ग में, (वः) तुम्हारा, (अवखादः) विनाश या पतन, (न) नहीं, (अस्ति) होता है।

हिन्दी अर्थ--हे आदित्य देवो ! सत्य के मार्ग पर चलने वाले के लिए मार्ग सुगम और निष्कंटक होता है। इससे तुम्हारी क्षति नहीं होगी।

Eng. Tr—O Sun-Gods ! one, who follows the path of truth, the path is easily accessible and thorn-less. Thereby you won't suffer any loss.

अनुशीलन--इस मंत्र में शिक्षा दी गई है कि सत्य का मार्ग सर्वश्रेष्ठ है। सत्य-भाषण, सत्य-व्यवहार, सत्यनिष्ठा, सत्यप्रियता जीवन का सबसे सरल और सुखद मार्ग है। जहाँ सत्य है, वहाँ सुख है। जहाँ असत्य है, वहाँ पतन, विनाश और दुर्गति है।

आचार्य चाणक्य ने इस विषय पर विचार करके कतिपय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं। उनके अनुसार, इस पृथ्वी को सत्य ही रोके हुए है। सत्य से ही यथासमय वर्षा होती है। सत्य से ही सभी सुख प्राप्त होते हैं। सत्य ही स्वर्ग-प्राप्ति का साधन है। सत्य ही सबसे बड़ा तप है।

सत्येन धार्यते लोकः। चा० सूत्र ४१९
सत्याद् देवो वर्षति। चा० सूत्र ४२०

सत्यं स्वर्गस्य साधनम् । चा० सूत्र ४१८

नास्ति सत्यात् परं तपः । चा० सूत्र ४१७

मंत्र का कथन है कि सत्य के मार्ग पर चलने वाले का कभी पतन नहीं होता। संसार में विपत्तियों और संकटों से बचाने वाला सत्य से बढ़कर कोई दूसरा उपाय नहीं है । जहाँ सत्य है, वहाँ सुख, शान्ति, योगक्षेम और कल्याण है ।

टिप्पणी—(१) **सुगः**—सुगम, सरल । सु + गम् (जाना) + ड (अ) । अम् का लोप होकर सुग बना । (२) **पन्थाः**—मार्ग । पथिन् (मार्ग) + प्र० १ । (३) **अनृक्षरः**—निष्कंटक, विघ्नरहित । अन्–नहीं, ऋक्षरः–कांटा, कांटे या विघ्न से रहित । (४) **ऋतम्**—सत्य या प्राकृतिक नियम । ऋत के अर्थ हैं—सत्य, शाश्वत प्राकृतिक नियम । (५) **यते**—चलने वाले के लिए । इ (जाना, अदादि) + शतृ = यत् + च० १ । (६) **अवखादः**—विनाश या पतन । इस मार्ग पर विनाश या पतन नहीं है । अव + खद् (नाश होना, नष्ट करना, भ्वादि, पर०) + घञ्(अ)। यह खाद् (खाना) धातु से नहीं है ।

३२. सत्य की अग्नि से शत्रुओं का नाश

तान् सत्यौजाः प्र दहत्वग्निर्वैश्वानरो वृषा ।
यो नो दुरस्याद् दिप्साच्च, अथो यो नो अरातियात् ॥

अथर्व० ४-३६-१

अन्वय—सत्यौजाः वैश्वानरः वृषा अग्निः तान् प्र दहतु, यः नः दुरस्यात् दिप्सात् च, अथो यः नः अरातियात् ।

शब्दार्थ—(सत्यौजाः) सत्य के बल वाला, सत्य ही जिसका बल है, (वैश्वानरः) सभी मनुष्यों का हितकारी, (वृषा) बलवान्, सुखों का वर्षक, (अग्निः) अग्नि तेजोमय परमात्मा, (तान्) उनको, (प्र दहतु) जला दे, नष्ट कर दे, (यः) जो, (नः) हमें, (दुरस्यात्) दुःख देना चाहता है, (दिप्सात् च) और जो हानि पहुंचाना चाहता है, (अथो) और, (यः) जो, (नः) हमारे साथ, (अरातियात्) शत्रुवत् व्यवहार करे ।

हिन्दी अर्थ--सत्यरूपी बल वाला, सभी मनुष्यों का हितकारी, सुखों का वर्षक, अग्निरूप परमात्मा, उन सभी को जला दे (नष्ट कर दे), जो हमें दुःख देना चाहते हैं, जो हमें हानि पहुँचाना चाहते हैं और जो हमसे शत्रुवत् व्यवहार करते हैं।

Eng. Tr.—May the Fire-God, having the might of truth beneficial to the mankind, the bestower of happiness, annihilate all those, who intend to injure or harm us and behave with us like an enemy.

अनुशीलन—इस मंत्र में सत्य की प्रबल शक्ति का वर्णन किया गया है। सत्य की प्रबल शक्ति को सत्यौजाः अग्नि कहा गया है। सत्यौजस् अग्नि क्या है ? सत्य स्वयं अग्नि है। इसमें दाहकता है, पावकता है और अधृष्यता है। सत्य की आग को कोई दबा नहीं सकता है। यह जहाँ रहती है, वहाँ पाप की परछाई नहीं पड़ सकती है। जिस प्रकार सूर्य अन्धकार को नष्ट करता है, उसी प्रकार सत्य का सूर्य पाप रूपी अन्धकार को छिन्न-भिन्न कर देता है। सत्य में गर्मी है, ऊष्मा है, दाहकता है। जहाँ सत्य है, वहाँ जीवन में ऊष्मा है, प्रगति है, कर्तव्यनिष्ठ है, सत्य में वैसी ही दाहकता है, जैसी अग्नि में। अग्नि लकड़ी आदि को जलाकर भस्म कर देती है, सत्य पाप, अपराध, दुर्विचार और अन्याय को जलाकर राख कर देता है।

मंत्र में सत्यौजा अग्नि को वैश्वानर और वृषा कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि विश्व + नर अर्थात् सारे मनुष्यों में व्याप्त है। इसमें कोई भेदभाव नहीं है। जो भी सत्य को अपनाएगा, चाहे वह छोटा या बड़ा, अमीर हो या गरीब, विद्वान् हो या अविद्वान्, सत्य उसकी रक्षा करेगा। सत्य शक्ति देता है, साहस देता है और उत्साह देता है। सत्य शक्ति का स्रोत है, अतः उसे वृषा या बलवान् कहा गया है।

टिप्पणी—(१) **सत्यौजाः**—सत्य–सत्य या वास्तविक, ओजस्–बल या तेज वाला। सत्यौजस् + प्र० १। (२) **प्रदहतु**—जलावे, नष्ट करे। दह् (जलाना, भ्वादि, पर०) + लोट् प्र० १। (३) **वैश्वानरः**—विश्व अर्थात् सभी, नर–मनुष्यों

का हितकारी । विश्वनर + अण् (अ) । हितकारी अर्थ में अण् प्रत्यय । (४) **वृषा**—बलवान्, शक्तिशाली, सुखों का वर्षक । वृषन् + प्र० १ । (५) **दुरस्यात्**—दुष्टवत् आचरण करना चाहे, दुःख देना चाहे । दुरस् + क्यच् (य) + लेट् प्र० १। दुष्ट को दुरस्, चाहने अर्थ में क्यच् प्रत्यय । (६) **दिप्सात्**—हानि पहुँचाना चाहे। दभ् (हानि पहुँचाना, भ्वादि) + इच्छा अर्थ में सन् (स) = दिप्स + लेट् प्र० १। (७) **अथो**—और । अथ + उ, अव्यय है । (८) **अरातियात्**—शत्रुवत् आचरण करे । अराति (शत्रु) + नामधातु क्यच् (य) = अरातिय + लेट् प्र० १ । अरातीयात् भी बनता है ।

३३. सभी ओर से निर्भय हों

यतो यतः समीहसे, ततो नो अभयं कुरु ।
शं नः कुरु प्रजाभ्यो-अभयं नः पशुभ्यः ॥

यजु० ३६-२२

अन्वय—यतः यतः समीहसे, ततः नः अभयं कुरु । नः प्रजाभ्यः शं कुरु, नः पशुभ्यः अभयं कुरु ।

शब्दार्थ—(यतः यतः) जिस-जिस से, जिस ओर से, (समीहसे) चाहते हो, (ततः) उससे, (नः) हमें, (अभयम्) अभय, निर्भय, (कुरु) करो । (नः) हमारी, (प्रजाभ्यः) प्रजा या संतानों के लिए, (शम्) सुख, कल्याण, (कुरु) करो । (नः) हमारे, पशुभ्यः) पशुओं के लिए, (अभयं कुरु) अभय करो ।

हिन्दी अर्थ—हे परमात्मन् ! तुम जिधर से चाहते हो, उधर से हमें निर्भय करो (अर्थात् हमें सभी ओर से निर्भय करो) । हमारी संतानों को सुख दो । हमारे पशुओं को निर्भय करो (अर्थात् कोई उनकी हिंसा न करे) ।

Eng. Tr.—O God ! may you bestow fearlessness upon us from all the directions. Confer welfare on our progeny and make our animals fearless.

अनुशीलन—इस मंत्र में जीवन को निर्भय बनाने का उपदेश दिया गया है। निर्भयता से साहस और मनोबल बढ़ता है। भय का क्या कारण है? भय को कैसे दूर किया जा सकता है?

भय का कारण है—पाप की भावना। पाप के विचार, पाप की कामना, पाप की ओर प्रवृत्ति और पाप-कृत्य करना मन का असंतुलन है। जब बुद्धि विवेक से काम नहीं लेती है तो मन उसे असन्मार्ग की ओर ले जाता है। यहीं से पाप-भावना का उदय होता है। जहाँ पाप-भावना आई, वहीं भय को स्थान मिला। भय की कोई स्थिति नहीं है। यह आकाश बेल की तरह है। जहाँ पाप देखा, वहीं घर बना लिया। यह सरलता से निकलता नहीं है। भले ही यह चोर की तरह कहीं छिपा पड़ा रहे, पर बड़ी कठिनाई से मन से निकलता है। इसलिए मंत्र में कहा गया है कि सब ओर के भय को हृदय से निकालें।

भय को दूर करने का सबसे सरल उपाय है—आस्तिकता की भावना को जमाना। जहाँ ईश्वर के अस्तित्व का ध्यान आया। वहीं आत्मिक बल जाग उठता है। आत्मिक बल से हृदय में उत्साह और साहस का संचार होता है। इससे भय चोर की तरह हृदय से भाग खड़ा होता है।

मंत्र में कामना की गई है कि यह निर्भयता का भाव मनुष्य-मात्र में जागृत हो। मानव ही नहीं, पशुओं को भी सुरक्षित रखा जाए।

टिप्पणी—(१) **यतो यतः**—जिससे, जिधर से। (२) **समीहसे**—तुम चाहते हो। सम् + ईह् (चाहना, भ्वादि, आ०) + लट् म० १। (३) **नः**—हमें। अस्माकम् के स्थान पर नः है। (४) **कुरु**—करो। कृ (करना, तनादि, पर०) + लोट् म० १। (५) **प्रजाभ्यः**—प्रजाओं के लिए, पुत्रादि के लिए।

३४. सदा निर्भय रहें

मा भेर्मा संविक्था ऊर्जं धत्स्व,
धिषणे वीड्वी सती वीडयेथाम्, ऊर्जंदधाथाम्।
पाप्मा हतो न सोमः॥

यजु० ६-३५

अन्वय—मा भेः, मा संविक्थाः, उर्जं धत्स्व। हे धिषणे, वीड्वी सती वीडयेथाम्, ऊर्जं दधाथाम्। पाप्मा हतः, न सोमः।

शब्दार्थ—(मा) मत, (भेः) भयभीत हो। (मा) मत, (संविक्थाः) कांपो, डरो। (ऊर्जम्) शक्ति, साहस या पुरुषार्थ को, (धत्स्व) धारण करो। (हे धिषणे) हे द्यावापृथिवी, (वीड्वी सतो) तुम दोनों दृढ़ रहते हुए, (वीडयेथाम्) हमें दृढ़ करो। (ऊर्जम्) शक्ति, (दधाथाम्) रखो, दो। (पाप्मा) पाप, दुर्गुण, पापबुद्धि, (हतः) नष्ट हो, (न सोमः) सौम्यगुण या सद्बुद्धि नष्ट न हो।

हिन्दी अर्थ—हे मनुष्य ! तुम न डरो और न कांपो। अपने अन्दर शक्ति (साहस) धारण करो। हे द्युलोक और पृथिवी ! तुम दोनों दृढ़ हो, तुम हमें दृढ़ता प्रदान करो। हमें शक्ति दो। हमारे पाप नष्ट हों, सद्गुण नहीं।

Eng. Tr.—O Man ! neither fear, nor tremble. Be bold. O Heaven and earth ! both of you are strong, so make me strong and bestow power on us. Let our sins be washed away, not the virtues.

अनुशीलन—इस मंत्र में दो उत्तम शिक्षाएं दी गई हैं—१. कभी डरें नहीं, साहसी हों। २. पापों को नष्ट करें, शुभ विचारों को नहीं।

मनुष्य में भय और कंपन क्यों हैं ? मनुष्य पाप करता है, दूसरों का अहित सोचता है, दुर्गुणों और दुर्व्यसनों में फंसता है, अपनी सात्त्विकता को नष्ट करता है, अतः उसका हृदय निर्बल हो गया है। उसमें मनोबल न्यून हो गया है, अतः वह कांपता है। इसके लिए शिक्षा दी गई है कि अपने हृदय में साहस रखो, शक्ति और उत्साह रखो तथा विपत्ति के प्रतीकार के लिए संनद्ध हो जाओ। जब मनुष्य में साहस आ जाता है तो भय दूर हो जाता है। इसलिए नीति-वचन है कि भय से तभी तक डरना चाहिए, जबतक वह दूर है। जब भय समीप आ जाए तो अपनी बुद्धि के अनुसार कार्य करे और उसका प्रतीकार करे। साहस से वह भय दूर हो जाएगा।

तावद् भयस्य भेतव्यं, यावद् भयमनागतम्।
आगतं तु भयं वीक्ष्य, नरः कुर्याद् यथोचितम्॥ हितोपदेश मित्र० ५६

मंत्र की दूसरी शिक्षा है कि पाप नष्ट हों, सद्‌गुण नहीं। पाप का भय से सीधा संबन्ध है और पुण्य का निर्भयता से। मनुष्य जब अपने पापों को नष्ट कर देगा, तभी निर्भय हो जाएगा। जीवन में पाप और दुर्गुण क्षीण हों तथा सद्‌गुणों का विकास हो, यही निर्भयता का सरल सोपान है।

टिप्पणी—(१) **मा भेः**—मत डरो। भी (डरना, जुहोत्यादि, पर०) + लुङ् म० १। अडागम नहीं, Root Aorist Inj. है। (२) **मा संविक्थाः**—मत कांपो, मत साहस छोड़ो। सम् + विज् (कांपना, तुदादि, आ०) + लुङ् म० १। अडागम नहीं, Root Aorist Inj. है। (३) **ऊर्जम्**—शक्ति, बल, साहस। (४) **धत्स्व**—रखो, धारण करो। धा (रखना, जुहोत्यादि, आ०) + लोट् म० १। (५) **धिषणे**—संसार को धारण करने के कारण द्युलोक और पृथिवी को धिषणा कहते हैं। सं० २। (६) **वीड्वी सती**—वीड्वी–दृढ़, सती–होते हुए। स्वयं दृढ़ रहते हुए। वीडु का दृढ़ है। स्त्रीलिङ्ग द्विवचन है। वीड्व्यौ सत्यौ। (७) **वीडयेथाम्**—हमें दृढ़ करो। वीडु + नामधातु णिच् + लोट् म० २। (८) **दधाथाम्**—रखो, दो। धा (रखना, जुहोत्यादि, आ०) + लोट् म० २। (९) **पाप्मा**—पाप, दोष, दुर्गुण, दुर्बुद्धि। पाप्मन् + प्र० १। (१०) **हतः**—नष्ट हो। हन् (नष्ट होना) + क्त। (११) **सोमः**—सोम्य गुण, सद्‌गुण, सद्‌बुद्धि, सद्‌भावना।

३५. संगठन का आधार ईश्वर है

संसमिद् युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इडस्पदे समिध्यसे, स नो वसून्या भर॥

ऋग्० १०–१९१–१; अथर्व ६–६३–४;
यजु० १५–३०; तैत्ति० सं० २–६–११–४

अन्वय—हे वृषन् अग्ने, अर्यः (त्वम्), विश्वानि (भूतानि) सं सम् इत् आ युवसे। इडस्पदे समिध्यसे। सः नः वसूनि आ भर।

शब्दार्थ—(हे वृषन् अग्ने) हे सुखों के वर्षक, अग्निरूप परमात्मन्, (अर्यः) तुम स्वामी होते हुए, (विश्वानि भूतानि) सभी जीवों को, (सं सम् इत्) ठीक ढंग

से, (आ) चारों ओर से, (युवसे) मिलाते हो, संयुक्त करते हो। (इडस्पदे) पृथिवी के स्थान में, यज्ञवेदी में, हृदय में, (समिध्यसे) तुम प्रदीप्त किए जाते हो। (सः) वह तुम, (नः) हमें, (वसूनि) धन, ऐश्वर्य, (आ भर) लाओ, दो।

हिन्दी अर्थ—हे सुखों के वर्षक अग्निरूप परमात्मन्! तुम संसार के स्वामी हो। तुम सारे जीवों को अच्छे ढंग से मिलाते हो, (तुम वैश्वानर रूप में सारे जीवों में व्याप्त होकर उन्हें मिलाते हो)। तुम यज्ञवेदी में (हृदय में) प्रदीप्त किए जाते हो। तुम हमें धन दो।

Eng. Tr.—O Fire-God, the bestower of happiness! you are lord of the universe. You unite all the beings well. You are kindled in the sacrificial hall. May you confer wealth upon us.

अनुशीलन—इस मंत्र में संगठन के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। संगठन का कर्ता कौन है? संगठन किस लिए है? संगठन कैसे हो?

समाज मानव की समष्टि है। व्यक्ति से समाज बनता है और व्यष्टि से समष्टि। समष्टि में व्यष्टि की भी सत्ता है। समाज में व्यक्ति का भी महत्त्व है। व्यक्ति को समाज की क्या आवश्यकता है? बिना समाज के व्यक्ति नहीं चल सकता है। व्यक्ति सामाजिक प्राणी है। उसे पग-पग पर दूसरों के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। घड़ी के पुरजों की तरह प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग अपना काम करता है और वे मिलकर एक समाज बनाते हैं। समाज बनाने के लिए आवश्यकता होती है—एक उद्देश्य की, एक प्रयोजन की, एक लक्ष्य की। समाज का लक्ष्य है—सभी को सुखी बनाना, संपन्न बनाना, सभी सुविधाओं से युक्त करना। सभी सुखी और संपन्न तभी बन सकते हैं, जब सबमें एकता हो, समन्वय हो और मिलकर काम करने की सुबुद्धि हो।

मंत्र में बताया गया है कि परमात्मा इस संसार में समन्वय-सूत्र है। वह सबको मिलाता है। समस्त विश्व में परमात्मा वैश्वानर अग्नि के रूप में विद्यमान है। सभी परमात्मा के पुत्र हैं। अतः सभी में एकत्व की भावना उदय होती है।

अग्नि तपाकर दो लोहों को मिला देती है, इसी प्रकार वैश्वानर अग्नि समाज में एकता की भावना उत्पन्न करती है। इसका आधार या विधाता परमात्मा है। आत्मतत्त्व मानवमात्र में आत्मीयता का भाव देता है। इसीलिए मंत्र में कहा गया है कि वह मिलाने वाला है। मिलाने का उद्देश्य है—मानवमात्र की श्रीवृद्धि। मिलाने का साधन है—समाज में व्यक्तियों की हार्दिक एकता।

टिप्पणी—(१) **सम् सम् इत्**—सं सम्—बहुत अच्छी तरह से, इत्—ही। बहुत अच्छा अर्थ में सम् की द्विरुक्ति। (२) **सं युवसे**—मिलाते हो। यु (मिलाना, तुदादि, आ०) + लट् म० १। (३) **वृषन्**—सुखों के वर्षक। वृषन् + सं० १। (४) **विश्वानि**—सभी जीवों को, विश्वानि भूतानि अर्थ है। (५) **अर्यः**—स्वामी होते हुए। तुम संसार के स्वामी हो। 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' (अष्टा० ३-१-१०३)। (६) **इडस्पदे**—इडः–पृथिवी के, पदे–स्थान में। यज्ञवेदी में या हृदयरूपी वेदी में। इडः + पदे। इड् या इडा का अर्थ पृथ्वी है। (७) **समिध्यसे**—प्रदीप्त किए जाते हो। सम् + इन्ध् (जलाना, रुधादि) + कर्मवाच्य य + लट् म० १। (८) **आभर**—आहर, लाओ, लाकर दो। आ + हृ (लाना, भ्वादि) + लोट् म० १। हृ को भ् आदेश।

३६. मिलकर चलो, मिलकर सोचो

सं गच्छध्वं सं वदध्वं, सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे, संजानाना उपासते॥

ऋग्० १०-१९१-२; अथर्व० ६-६४-१;
तैत्ति० ब्रा० २-४-४-४

अन्वय—(हे जनाः) सं गच्छध्वम्, सं वदध्वम्, वः मनांसि सं जानताम्। यथा पूर्वे देवाः संजानानाः भागम् उपासते, (तथैव यूयं कुरुत)।

शब्दार्थ—(हे जनाः) हे मनुष्यो, (सं गच्छध्वम्) मिलकर चलो। (सं वदध्वम्) मिलकर बोलो। (वः) तुम्हारे, (मनांसि) मन, (सं जानताम्) एक प्रकार के विचार करें। (यथा) जैसे, (पूर्वे) प्राचीन, (देवाः) देवों या विद्वानों ने, (संजानानाः)

एकमत होकर, (भागम्) अपने अपने भाग को, (उपासते) स्वीकार किया, इसी प्रकार तुम भी एकमत होकर अपना भाग स्वीकार करो।

हिन्दी अर्थ—(हे मनुष्यो !) मिलकर चलो। मिलकर बोलो। तुम्हारे मन एक प्रकार के विचार करें। जिस प्रकार प्राचीन विद्वान् एकमत होकर अपना-अपना भाग ग्रहण करते थे, (उसी प्रकार तुम भी एकमत होकर अपना भाग ग्रहण करो)।

Eng. Tr.—O Men ! you should walk together, talk together and think alike. As your predecessors shared their assignments, so you must share your due.

अनुशीलन—मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसका सम्बन्ध समाज से है। वह समाज का एक अंग है। व्यक्ति व्यष्टि है और समाज समष्टि। संगठन से समष्टि सुदृढ़ होती है। संगठन निर्बल को भी बलवान्, शक्तिहीन को शक्तिशाली बना देता है। अतः कहा गया है कि—'संघे शक्तिः कलौ युगे' कलियुग में संगठन में ही शक्ति है। नीति का श्लोक है कि—

संहतिः श्रेयसी पुंसां सुगुणैरल्पकैरपि।
तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिनः॥

सद्गुणयुक्त थोड़े व्यक्ति भी हों तो उनका संगठित होना कल्याणकारी है। तिनके मिलकर रस्सा बनते हैं और उनसे मत्त हाथी भी बांधे जा सकते हैं। संगठन की महिमा अपार है। समाज में प्रतिष्ठित रूप से जीवित रहने के लिए संगठन अनिवार्य है। अतएव मन्त्र में कहा गया है कि प्राचीन ऋषि-मुनि एवं आर्यजन एकत्व के महत्त्व को समझकर सुसंगठित थे, उसी प्रकार हम भी सुसंगठित हों। इसके लिए आवश्यकता है कि सभी व्यक्ति साथ उठें, बैठें। मिलकर विचार-विनिमय करें और सामूहिक निर्णय का पालन करें। जो साथ चलेंगे, मिलकर बोलेंगे और जिनमें संज्ञान (एकत्वबुद्धि) होगा, वे सदा उन्नति करेंगे।

टिप्पणी—(१) **सं गच्छध्वम्**—सम्-मिलकर, गच्छध्वम्-चलो। सम् + गम् (जाना, भ्वादि) + लोट् म० ३। सम् के कारण आत्मनेपद। (२) **सं**

वदध्वम्—सम्—मिलकर, वदध्वम्—बोलो । सम् + वद् (बोलना, भ्वादि) + लोट् म० ३ । आत्मनेपद में प्रयोग है । (३) **सं जानताम्**—मिलकर जानें, एकमत होकर किसी विषय पर विचार करें । सम् + ज्ञा (जानना, क्र्यादि) + लोट् प्र० ३ । आत्मनेपद है । (४) **संजानानाः**—एकमत होकर । सम् + ज्ञा + शानच् (आन) + प्रथमा ३ । (५) **उपासते**—स्वीकार करते हैं । उप + आस् (बैठना, अदादि) + लट् प्र० ३ ।

३७. सबके विचार समान हों

समानो मन्त्रः समितिः समानी,
समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि ॥

ऋग्० १०-१९१-३; अथर्व० ६-६४-२;
तैत्ति० ब्रा० २-४-४-५

अन्वय—एषां मन्त्रः समानः, समितिः समानी, मनः समानम्, चित्तं सह । वः समानं मन्त्रम् अभि मन्त्रये । वः समानेन हविषा जुहोमि ।

शब्दार्थ—(एषाम्) इनका, इन लोगों का, (मन्त्रः) मन्त्र, विचार, मन्त्रणा, (समानः) एक प्रकार का हो । (समितिः) सभा, संगठन, (समानी) समान विचार वाली हो । (मनः) मन, (समानम्) एक सा हो । (चित्तम्) चिन्तन, चित्त, (सह) एक प्रकार का हो । (वः) तुम्हारे लिए, (समानम्) एक प्रकार का, (मन्त्रम्) मन्त्र, (अभिमन्त्रये) आमन्त्रित करता हूँ, उपदेश करता हूँ । (वः) तुम्हें, (समानेन) एक प्रकार की, (हविषा) हवि से, सामग्री से, (जुहोमि) युक्त करता हूँ, हवन करता हूँ ।

हिन्दी अर्थ—इन (लोगों) की मन्त्रणा एक प्रकार की हो । समिति एक प्रकार की हो । इनका मन समान हो और चित्त (चिन्तन) भी समान हो । तुम्हें समान मन्त्र देता हूँ और तुम्हें समान सामग्री (उपकरण) से युक्त करता हूँ ।

Eng. Tr.—Let us think together. Let us assemble together. Let our minds and thoughts be alike. I (God) give you uniform ideas and equal facilities,

अनुशीलन—वेद का कथन है कि परमात्मा ने सभी को समान सुविधाएं दी हैं और समान उपकरण दिए हैं। मनुष्य का कर्तव्य है कि वह उन सुविधाओं का ठीक उपयोग करके अपनी और समाज की उन्नति करे। व्यक्तिगत और सामूहिक उन्नति का साधन है—विचारों की एकता, भावनाओं का समन्वय और क्रियाकलाप में एकरूपता। इसके लिए ही सभा और समिति का गठन किया गया था। इनमें विचार-विनिमय के द्वारा समाज के लिए एक निश्चित प्रक्रिया निर्धारित की जाती थी। इसका पालन करने से समाज सुसंगठित होता था। इसको ही मन्त्र में कहा गया है कि मन्त्रणा या विचार समान हों। सभा और समिति में एक प्रकार का सामूहिक निर्णय लिया जाए। समाज के सभी सदस्यों के विचारों में एकरूपता हो। सभी एक निर्णय करके उसका पालन करें। यह संगठन की भावना ही समाज को उन्नत करती है, अतः इसका दृढ़तापूर्वक पालन करना चाहिए।

टिप्पणी—(१) **मन्त्रः**—विचार, मन्त्रणा। (२) **समितिः**—सभा या संगठन। (३) **अभि मन्त्रये**—देता हूँ, उपदेश करता हूँ। अभि + मन्त्र् (कहना, विचारना, चुरादि) + णिच् + लट् उ० १। (४) **हविषा**—हवि से, सामग्री या उपकरण से। हविष् + तृ० १। (५) **जुहोमि**—हवन करता हूँ, देता हूँ, यहाँ अर्थ है—युक्त करता हूँ। हु (हवन करना, जुहोत्यादि) + लट् उ० १।

३८. सबका लक्ष्य एक हो

समानी व आकूतिः, समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो, यथा वः सुसहासति ॥

ऋग्० १०-१९१-४; अथर्व० ६-६४-३;
तैत्ति० ब्रा० २-४-४-५

अन्वय—वः आकूतिः समानी, वः हृदयानि समाना (समानानि), वः मनः समानम् अस्तु। यथा वः सुसह असति।

शब्दार्थ—(वः) तुम्हारा, (आकूतिः) संकल्प, अध्यवसाय, (समानी) समान हो। (वः) तुम्हारे, (हृदयानि) हृदय, (समाना) समान हों। (वः) तुम्हारा, (मनः) मन, (समानम् अस्तु) समान हो। (यथा) जिस प्रकार, (वः) तुम्हारा, (सुसह) संगठन, समन्वय, (असति) होवे।

हिन्दी अर्थ—तुम्हारे संकल्प समान हों। तुम्हारे हृदय समान हों। तुम्हारे मन समान हों, जिससे तुम्हारा संगठन हो।

Eng. Tr.—Let you proceed with similar intentions. Let your hearts and minds be similar to each other, so that you may be organised uniformly.

अनुशीलन—इस मन्त्र में संगठन के तीन मूल तत्त्वों का निर्देश किया गया है। वे हैं—१. विचार-साम्य, २. हृदय-साम्य, ३. मनःसाम्य। किसी भी संगठन के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता है कि संगठित होने वाले समूह में विचारों की एकता हो। यदि विचारों में एकता नहीं है, विचार-भेद है, मत-भेद है, तो वह संगठन सुदृढ़ नहीं हो सकता है। जहाँ विचारों की एकता होगी, वहाँ लक्ष्य एक होगा, साध्य एक होगा। वह एक लक्ष्य सबको संगठित रखेगा। दूसरी आवश्यकता है—हृदय की एकता। लक्ष्य भले ही एक हो, पर यदि हम उसमें हार्दिक सहयोग नहीं दे रहे हैं, हृदय से साथ नहीं हैं, हार्दिक एकता नहीं है, तो लक्ष्य एक होने पर भी सफलता नहीं मिलेगी। अतः एक लक्ष्य की पूर्ति के लिए हृदय की एकता भी अनिवार्य है। तीसरी आवश्यकता है—मन की एकता। यदि लक्ष्य एक है और हृदय से सहानुभूति भी है, पर यदि क्रियाशीलता नहीं है, प्रेरणा नहीं है और प्रबुद्धता नहीं है तो वह संगठन दृढ़ नहीं होगा। कठोपनिषद् के अनुसार 'मनः प्रग्रहमेव च' मन शरीर में लगाम का काम करता है। लगाम जिस ढंग से नियन्त्रित की जाएगी, उसी प्रकार घोड़े चलेंगे। यदि मनरूपी लगान को ठीक नियन्त्रित रखेंगे, नियमित रूप से उस कार्य को गति देंगे और पूर्ण मनोयोग देंगे,

तभी संगठन सुव्यवस्थित और सुदृढ़ होगा। ये तीन तत्त्व हैं, जिनके अपनाने से कोई भी संगठन सुदृढ़ हो सकता है।

टिप्पणी—(१) **आकूतिः**—संकल्प, विचार, उद्देश्य। (२) **समाना**—समान हों। समानानि का संक्षिप्त रूप है। (३) **सुसह**—सुन्दर संगठन, सहअस्तित्व, सुखद-एकता। सु—अच्छा, सह—एकता, साथ। (४) **असति**—होवे। अस् (होना, अदादि + लेट् प्र० १।

३९. सबके विचार समान हों

सं वो मनांसि सं व्रता, समाकूतीर्नमामसि।
अमी ये विव्रता स्थन, तान् वः सं नमयामसि॥

अथर्व० ३-८-५; ६-९४-१

अन्वय—वः मनांसि सं नमामसि, व्रता सं (नमामसि), आकूतीः सं (नमामसि)। अमी ये विव्रताः स्थन, तान् वः सं नमयामसि।

शब्दार्थ—(वः) तुम्हारे, (मनांसि) मनों को, (सं नमामसि) एक प्रकार के भावों से युक्त करते हैं, झुकाते हैं। (व्रता) तुम्हारे कर्मों को (सं नमामसि) एक भाव से युक्त करते हैं। (आकूतीः) तुम्हारे विचारों या संकल्पों को, (सं नमामसि) एक प्रकार के भावों से युक्त करते हैं। (अमी ये) ये जो, (विव्रताः) विरुद्ध कर्मों वाले, (स्थन) हैं, (तान् वः) उन तुम सभी को, (सं नमयामसि) एक विचार की ओर झुकाते हैं, अर्थात् एक प्रकार के कर्म वाला बनाते हैं।

हिन्दी अर्थ—हम तुम्हारे मन को, तुम्हारे कर्मों को और तुम्हारे विचारों को एक प्रकार के भाव वाला बनाते हैं। जो विपरीत कर्मों वाले व्यक्ति हैं, उन्हें हम झुकाते हैं (अर्थात् एक प्रकार के कर्म वाले बनाते हैं)।

Eng. Tr.—We make your minds, actions and thoughts uniform. We bring the evil-doers to the right path.

अनुशीलन—इस मंत्र में बताया गया है कि समाज को सुसंगठित कैसे बना सकते हैं ? समाज को असंगठित करने वाले कौन से तत्त्व हैं और उनको कैसे अपने वश में ला सकते हैं ?

समाज की एकता के लिए तीन तत्त्वों की आवश्यकता है—१. समान विचार, २. समान कर्म, ३. समान लक्ष्य। जब मन एक होंगे तो विचार भी एक होंगे। मानसिक एकता भावों और विचारों की एकता को लाती है। विचारों की एकता तभी सफल होगी, जब उसके अनुरूप कार्य किया जाए। मानसिक एकता और कार्य की एकता तभी संभव है, जब लक्ष्य एक हो। समाज का लक्ष्य है—समाज की सुख-समृद्धि और शान्ति। इसके लिए ही मन्त्र में बताया गया है कि हमारे मन, कर्म और विचार समान हों। यह समान-भावना केवल सद्विचार से आ सकती है। जब एक-दूसरे के हित-चिन्तन की भावना होगी, तभी सद्विचार उदय होंगे और तभी सब मिलकर समाज के उत्थान के लिए प्रयत्नशील होंगे।

मन्त्र का कथन है कि कुछ तत्त्व ऐसे हैं, जो विपरीत कर्म करते हैं, विपरीत आचरण करते हैं। इनको **'विव्रताः'** कहा है। ये तत्त्व सदा काम बिगाड़ते हैं। इनको सुधारने का ढंग है—**'सं नमयामसि'** झुकाना, मोड़ना और कठोर दंड से रास्ते पर लाना। कुकर्मियों को विचार-परिवर्तन से, कठोर दंड से, सामाजिक अनुशासन और बहिष्कार से वश में लाया जा सकता है।

टिप्पणी—(१) **व्रता**—व्रतानि, कर्मों को। व्रत + प्र० ३। व्रतानि का संक्षिप्त रूप व्रता है। (२) **आकूतीः**—विचारों को, संकल्पों को। आकूति + प्र० ३। (३) **सं नमामसि**—अच्छे प्रकार से झुकाते हैं, अर्थात् एक प्रकार के भाव वाला बनाते हैं। नम् (झुकना, भ्वादि, पर०) + लट् उ० ३। नमामः को नमामसि, अन्त में इ का आगम। (४) **विव्रताः**—विपरीत कर्म वाले। वि–विपरीत, व्रत–कर्म। (५) **स्थन**—हैं। अस् (होना, अदादि) + लोट् म० ३। स्त के स्थान पर स्थन है। (६) **सं नमयामसि**—झुकाते हैं। सं + नम् (झुकना, भ्वादि, पर०) + णिच् + लट् उ० ३। अन्त में इ का आगम। एक प्रकार के कर्म वाला बनाते हैं।

४०. हमारे संगठन सुपुष्ट हों

मनो मे तर्पयत, वाचं मे तर्पयत,
प्राणं मे तर्पयत, चक्षुर्मे तर्पयत,
श्रोत्रं मे तर्पयत, आत्मानं मे तर्पयत,
प्रजां मे तर्पयत, पशून् मे तर्पयत,
गणान् मे तर्पयत, गणा मे मा वितृषन् ॥

यजु० ६-३१

अन्वय—मे मनः तर्पयत, मे वाचं०, मे प्राणं०, मे चक्षुः० । मे श्रोत्रं०, मे आत्मानं०, मे प्रजां०, मे पशून्०, मे गणान् तर्पयत, मे गणाः मा वितृषन् ।

शब्दार्थ—(मे मनः) मेरे मन को, (तर्पयत) तृप्त करो । (मे वाचं तर्पयत) मेरी वाणी को तृप्त करो । (मे प्राणं तर्पयत) मेरे प्राणों को तृप्त करो । (मे चक्षुः तर्पयत) मेरे नेत्रों को तृप्त करो । (मे श्रोत्रं तर्पयत) मेरे कानों को तृप्त करो । (मे आत्मानं तर्पयत) मेरी आत्मा को तृप्त करो । (मे प्रजां तर्पयत) मेरी संतान को तृप्त करो । (मे पशून् तर्पयत) मेरे पशुओं को तृप्त करो । (मे गणान् तर्पयत) मेरे गणों या संगठनों को तृप्त करो । (मे गणाः) मेरे गण या संगठन, (मा) मत, (वितृषन्) विरक्त, उदासीन या उपेक्षाभाव से युक्त हों ।

हिन्दी अर्थ—हे देवो ! मेरे मन को, मेरी वाणी को, मेरे प्राणों को, मेरे नेत्रों को, मेरे कानों को, मेरी आत्मा को, मेरी संतान को, मेरे पशुओं को और मेरे संगठनों को तृप्त करो । मेरे संगठन कभी विरक्त (उपेक्षा-भाव-युक्त) न हों ।

Eng. Tr.—O Gods ! may you gratify my mind, my speech, my vital air, my eyes, my ears, my soul, my progeny, my animals and my associations. May my associations be not indifferent to me.

अनुशीलन—इस मंत्र में सामाजिक संगठनों को पुष्ट करने का विधान है । मंत्र में सामाजिक संगठनों को गण कहा गया है । गण सुसंगठित हों, परस्पर अनुरक्त हों, उनमें अरुचि न हो और वे सभी प्रकार से साधन-संपन्न हों ।

मंत्र में गणों की तृप्ति का उल्लेख है। ये गण अर्थात् सामाजिक संगठन तभी तृप्त हो सकते हैं, जब इनमें परस्पर अनुराग हो, मिलकर काम करने की भावना हो और संगठन के प्रति विरक्ति या अरुचि न हो। आज हमारे सामाजिक संगठनों की असफलता का कारण है—विरक्ति या अरुचि। सामाजिक कार्यों के प्रति उपेक्षा का भाव, कोई रुचि न दिखाना या सर्वथा उदासीन हो जाना, सामाजिक संगठन को नष्ट कर देता है। अतः मंत्र में इस प्रकार की विरक्ति से सावधान रहने की आवश्यकता बताई गई है।

सामाजिक संगठनों की पुष्टि का उद्देश्य मंत्र में बताया गया है कि इसके द्वारा सभी व्यक्तियों के मन, वाणी, प्राण, चक्षु, कान, प्रजा, पशु और आत्मा तृप्त हों, हृष्ट-पुष्ट हों और इनमें शक्ति का संचार हो। किसी प्रकार का भी संगठन हो, उसमें आत्म-तुष्टि, आत्मतृप्ति, आत्मिक विकास और मनोबल का उत्कर्ष परमावश्यक है।

टिप्पणी—(१) **तर्पयत**—तृप्त करो, पुष्ट करो, संतुष्ट करो। तृप् (तृप्त होना, दिवादि, पर०) + णिच् + लोट् म० ३। (२) **आत्मानम्**—आत्मा को या अपने शरीर को। (३) **प्रजाम्**—प्रजा को, पुत्र आदि संतान को। (४) **गणान्**—गणों को, संगठन या संघ को। मनुष्यों के समूह को गण कहते हैं। (५) **मा वितृषन्**—विरक्त न हों। वि + तृष् (प्यासा होना, दिवादि, पर०) + लुङ् प्र० ३। अडागम नहीं, Inj. है।

४१. खान-पान में सहभागी हों

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः,
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यत,
अरा नाभिमिवाभितः॥

अथर्व० ३–३०–६

अन्वय—वः प्रपा समानी, अन्नभागः सह, वः समाने योक्त्रे सह युनज्मि। सम्यञ्चः अग्निं सपर्यत, अभितः नाभिम् अराः इव।

शब्दार्थ—(वः) तुम्हारी, (प्रपा) प्याऊ, जल पीने का स्थान, (समानी) एक हो। (अन्नभागः) अन्न का भाग, अन्नशाला, भोजनशाला, भोजन करने का स्थान, (सह) साथ हो, एक हो। (वः) तुम्हें, (समाने) एक, (योक्त्रे) जूए में, जोत में, बन्धन या प्रेमबन्धन में, (सह) साथ, (युनज्मि) लगाता हूँ, जोड़ता हूँ। (सम्यञ्चः) समान विचार वाले होकर, (अग्निम्) अग्निरूप परमात्मा की, (सपर्यत) पूजा करो। (अभितः) चारों ओर से, (नाभिम्) नाभि में, धुरी में, (अराः इव) जैसे अरे जुड़े होते हैं।

हिन्दी अर्थ—तुम्हारा जलपान-गृह एक हो। तुम्हारा भोजन-गृह एक हो। तुम्हें एक बन्धन (प्रेम-बन्धन) में साथ-साथ जोड़ता हूँ। एकमत होकर अग्निरूप परमात्मा की पूजा करो (यज्ञ करो), जैसे धुरी में चारों ओर से अरे जुड़े हुए होते हैं, (उसी प्रकार मिलकर रहो)।

Eng. Tr.—Let your dining and water-taking be at the same place. I join you all with a knot of mutual understanding. Worship Fire-God with unanimity and lead a life of an axle encircled by spokes.

अनुशीलन—परिवार हो या समाज, उसकी समृद्धि और एकता के लिए कुछ उपायों का आश्रय लेना पड़ता है। साथ जलपान करना, साथ भोजन करना, साथ उठना-बैठना, ये ऐसे कार्य हैं, जिनसे परिवार या समाज में सद्भावना और प्रेम का वातावरण उत्पन्न होता है। साथ बैठने पर स्वाभाविक है कि परस्पर वार्तालाप हो, हँसी-मजाक हो, कुछ सुख-दुःख की बातें हों। इनसे पारस्परिक स्नेह बढ़ता है, एकता की अनुभूति होती है और सामंजस्य होता है। अतएव मंत्र में कहा गया है कि जलपान-गृह और भोजन-गृह एक हों, सम्मिलित हों। इससे प्रेम का बन्धन पुष्ट होगा, सहानुभूति बढ़ेगी और एक-दूसरे के सुख-दुःख में सहभागी होंगे। इस मंत्र में दूसरा उपदेश दिया गया है कि समाज में इसी प्रकार रहो, जैसे रथ आदि की धुरी में अरे रहते हैं। धुरी में अरे ऐसे फँसे रहते हैं कि वे पृथक् होते हुए भी एक केन्द्र से सम्बद्ध हैं। इसी प्रकार समाज का प्रत्येक व्यक्ति संगठनरूपी केन्द्र से सम्बद्ध होना चाहिए। समाज के हित में,

राष्ट्र के हित में, अपना हित समझे। समष्टि की उन्नति से व्यष्टि की उन्नति होती है। समाज के हित में व्यक्ति का हित निहित है।

टिप्पणी—(१) **प्रपा**—प्याऊ, पानी पीने का स्थान। (२) **वः**—तुम्हारा, तुम्हें। (३) **अन्नभागः**—अन्न का भाग, भोजन का स्थान। (४) **योक्त्रे**—जुए में, बैलों को जोतने का जूआ। यहाँ बन्धन या प्रेम-बन्धन अर्थ है। (५) **युनज्मि**—जोतता हूँ, बाँधता हूँ। युज् (जोड़ना, मिलाना, रुधादि) + लट् उ० १। (६) **सम्यञ्चः**—एक विचार होकर, मिलकर। (७) **सपर्यत**—पूजा करो। सपर्य (पूजा करना, सपर् + य, नामधातु) + लोट् म० ३।

४२. समाज में सामूहिक सद्‌बुद्धि

इन्द्रवायू बृहस्पतिं, सुहवेह हवामहे।
यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असत्॥

ऋग्० १०-१४१-४; यजु० ३३-८६; अथर्व० ३-२०-६

अन्वय—सुहवा इन्द्रवायू बृहस्पतिं (च) इह हवामहे। यथा नः सर्वः इत् जनः संगत्यां सुमनाः असत्।

शब्दार्थ—(सुहवा) सुन्दर आह्वान के योग्य, (इन्द्रवायू) इन्द्र और वायु को, (बृहस्पतिं च) और बृहस्पति को, (इह) यहाँ, इस यज्ञ में, (हवामहे) बुलाते हैं। (यथा) जिससे, (नः) हमारे, (सर्वः इत्) सभी, (जनः) लोग, (संगत्याम्) संगठन में, संघ में, (सुमनाः) सुन्दर मन वाले या सुन्दर विचार वाले, (असत्) होवें।

हिन्दी अर्थ—सुन्दर आह्वान के योग्य इन्द्र और वायु को तथा बृहस्पति को इस यज्ञ में बुलाते हैं। जिससे हमारे सभी लोग संगठन में (सामूहिक कार्यों में) सुन्दर मन वाले हों।

Eng. Tr.—We invoke the Gods Indra, the wind and Brihaspati in this sacrifice, so that all our associates may be like-minded in the social-work.

अनुशीलन—इस मंत्र में समाज की उन्नति के लिए सामाजिक सद्‌बुद्धि की

प्रार्थना की गई है। इन्द्र, वायु और बृहस्पति इन तीन देवों को यह कार्य सौंपा गया है कि वे सद्बुद्धि दें।

इन्द्र शक्ति का देवता है, वायु प्रगति का देवता है और बृहस्पति ज्ञान का देवता है। ये तीनों देव समाज में अपनी अपनी शक्ति भरेंगे, तभी लोगों में चेतना आएगी और वे मिलकर कुछ निर्णय कर सकेंगे। इन्द्र समाज में शक्ति, सामर्थ्य और उत्साह देता है। जब समाज में शक्ति और उत्साह होगा, तभी वह समाज की उन्नति या विकास की बात सोचेगा। वायु सदा गतिशील है। वह प्रगति, उन्नति और विकास देता है। जिस प्रकार वायु अनवरत बहता है और चलता है, इसी प्रकार समाज में भी कर्मठता चाहिए। शक्ति का विकास हो और कार्य करने की क्षमता हो, तभी समाज प्रगति की बात सोच सकता है। बृहस्पति ज्ञान देता है, विवेक देता है, सद्बुद्धि देता है। इस प्रकार शक्ति, कर्मठता और विवेक, जब ये तीनों एकत्र होते हैं, तब समाज में सद्बुद्धि होती है और समाज आगे बढ़ता है।

मंत्र में स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि सामूहिक या सामाजिक कार्यों में सदा सद्भावना से प्रवृत्त होना चाहिए। समाजहित के सामने वैयक्तिक हित को तुच्छ समझना चाहिए। समाज का हित होगा तो व्यक्ति का हित स्वयं होगा। इस विषय में आर्यसमाज का नवम नियम सदा स्मरणीय है कि—

'प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए,
किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।'

टिप्पणी—(१) **सुहवा**—सुहवौ, सुन्दर आह्वान के योग्य। सुहव + प्र० २। सुहवौ का संक्षिप्त रूप है। (२) **हवामहे**—हम बुलाते हैं, पुकारते हैं। ह्व (ह्वे, पुकारना, भ्वादि, आ०) + लट् उ० ३। (३) **सर्वः इत्**—सभी। इत्—ही, अव्यय है। (४) **संगत्याम्**—संगति में, संगठन में, सामूहिक कार्यों में। संगति + स० १। (५) **सुमनाः**—सुन्दर मन वाला, सुन्दर विचार वाला। सुमनस् + प्र० १। (६) **असत्**—होवे। अस् (होना, अदादि, पर०) + लेट् प्र० १। (७) **पाठभेद**—**यजुर्वेद में बृहस्पतिम् के स्थान पर 'सुसंदृशा' (सुन्दर दर्शनीय) है।** संगत्यां० के

स्थान पर 'अनमीवः संगमे सुमना असत्' (संगठन में नीरोग और सुन्दर मन वाला हो) पाठ है। अथर्ववेद में बृहस्पतिम् के स्थान पर 'उभाविह' (यहाँ दोनों को) पाठ है। अन्त में अधिक पाठ है—'दानकामश्च नो भुवत्' (हमें दान देने की इच्छा वाले हों।

४३. संयम से मृत्यु पर विजय

ब्रह्मचर्येण तपसा, देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण, देवेभ्यः स्वराभरत्॥

अथर्व० ११-५-१९

अन्वय—ब्रह्मचर्येण तपसा देवाः मृत्युम् अप अघ्नत। इन्द्रः ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वः आ अभरत्।

शब्दार्थ—(ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्यरूपी तप से, (देवाः) देवों ने, (मृत्युम्) मृत्यु को, (अप अघ्नत) मारा, नष्ट किया, जीत लिया। (इन्द्रः ह) वस्तुतः इन्द्र, (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य के द्वारा, (देवेभ्यः) देवों के लिए, (स्वः) सुख, कल्याण, स्वर्ग, (आ अभरत्) लाया, लाकर दिया।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचर्यरूपी तप से देवों ने मृत्यु को नष्ट किया (जीता)। वस्तुतः इन्द्र (जीवात्मा) ने ब्रह्मचर्य से देवों को सुख प्राप्त कराया।

Eng. Tr.—The Gods conquered the death by means of observing chastity. Lord Indra procured happiness for the Gods by means of observing chastity.

अनुशीलन—इस मंत्र में संयम का महत्त्व बताया गया है। संयम ही वह शक्ति है, जो मनुष्य को मृत्यु से बचा सकती है। ब्रह्मचर्य के द्वारा ही देव सुख और शान्ति पूर्वक हैं।

मन्त्र का कथन है कि ब्रह्मचर्य या संयम एक महान् तप है। देवों ने यह तप किया और मृत्यु पर विजय प्राप्त की। मृत्यु और अमरता क्या है? मनुष्य के

शरीर में जीवन के साररूप में वीर्य या शुक्र रहता है। इसकी दो गति हैं—ऊर्ध्व-गति और अधोगति। संयम से और प्राण-निरोध या प्राणायाम से इसकी उर्ध्वगति होती है। तब मनुष्य ऊर्ध्वरेतस् होता है। उसके हृदय में दुर्भावनाएं और काम-भावनाएं नहीं उठती हैं। वह सब ओर सद्विचार से ही देखता है। इसके विपरीत दुविचारों से वीर्य की अधोगति होती है। वीर्यनाश से रोग, आधि-व्याधि, विपत्ति और मृत्यु सिर पर खड़ी रहती हैं। ज्ञानचक्षु से कामभावना नष्ट की जाती है। इसको ही शिव का तृतीय नेत्र कहते हैं। इस ज्ञाननेत्र से काम-भावना नष्ट होने पर ऊर्ध्वरेताः की स्थिति होती है। इससे जीवन में अमरता आती है। यह है मृत्यु पर देवों की विजय।

टिप्पणी—(१) **अप अघ्नत**—मारा, नष्ट किया, जीता। अप + हन् (मारना, अदादि, आ०) + लङ् प्र० ३। (२) **ह**—अवश्य, वस्तुतः। अव्यय है। (३) **स्वः**—सुख, कल्याण। स्वर् का अर्थ स्वर्ग भी है। (४) **आ अभरत्**—लाया, लाकर दिया। आ + हृ (लाना, भ्वादि, पर०) + लङ् प्र० १। हृ को भ् आदेश।

४४. संयम से समाज की सुरक्षा

ब्रह्मचर्येण तपसा, राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण, ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥

अथर्व० ११-५-१७

अन्वय—ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति। आचार्यः ब्रह्मचर्येण ब्रह्म-चारिणम् इच्छते।

शब्दार्थ—(ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्यरूपी तप से, (राजा) राजा, (राष्ट्रम्) राष्ट्र की, देश की, (वि रक्षति) विशेष रूप से रक्षा करता है। (आचार्यः) आचार्य, गुरु, (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य के द्वारा, स्वयं ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए, (ब्रह्मचारि-णम्) ब्रह्मचारी को, विद्यार्थी को, (इच्छते) चाहता है।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचर्यरूपी तप से ही राजा राष्ट्र की विशेष रूप से

रक्षा करता है। आचार्य भी स्वयं ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ ही ब्रह्मचारी को चाहता है।

Eng. Tr.—A king, observing chastity, guards his nation. A spiritual teacher, observing chastity, invites the disciples.

अनुशीलन—इस मंत्र में भी ब्रह्मचर्य और संयम का महत्त्व बताया गया है। राजा ब्रह्मचर्य और संयम से ही अपने राज्य की रक्षा करता है। आचार्य स्वयं संयमी जीवन बिताते हुए शिक्षणार्थ ब्रह्मचारियों को चाहता है।

इस मंत्र में राजा और आचार्य के लिए बहुत कठोर अनुशासन दिया गया है कि वे ब्रह्मचारी हों। राजा यदि असंयमी और चरित्रहीन है तो वह अपने राज्य की रक्षा नहीं कर सकता है। **'यथा राजा तथा प्रजा'** जैसा राजा होगा, वैसी ही प्रजा होगी। राजा उच्च चरित्र वाला होगा, तो प्रजा का चरित्र ऊँचा होगा। अन्यथा दोनों का चरित्र निम्न होगा। आचार्य चाणक्य ने भी इस विषय में स्पष्ट लिखा है कि राज्य का मूल इन्द्रिय-जय या संयम है। जहाँ संयम नहीं है, उच्च चरित्र और जितेन्द्रियता नहीं है, वहाँ राष्ट्र या राज्य सुरक्षित नहीं रह सकता है। चरित्र-हीनता राज्य के नाश का कारण है।

राज्यस्य मूलम् इन्द्रियजयः। चा० सूत्र ४

आचार्य के लिए भी यही आदेश है कि वह स्वयं ब्रह्मचारी हो और विद्यार्थियों को ब्रह्मचर्य और आचार की शिक्षा दे। अथर्ववेद का कथन है कि आचार्य स्वयं ब्रह्मचारी, संयमी और जितेन्द्रिय हो।

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः। अथर्व० ११-५-१६

निरुक्तकार यास्क ने आचार्य शब्द की व्याख्या ही की है—जो आचार या सदाचार सिखावे।

आचार्यः कस्मात्? आचार्य आचारं ग्राहयति। निरुक्त १-४

टिप्पणी—(१) **राष्ट्रम्**—देश को, राष्ट्र को। (२) **वि रक्षति**—विशेष रूप से रक्षा करता है। (३) **ब्रह्मचर्येण**—ब्रह्मचर्यपूर्वक। आचार्य स्वयं ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ ही। (४) **इच्छते**—चाहता है। इष् (इच्छ्, चाहना, तुदादि, आ०) + लट् प्र० १। वेद में इष् धातु उभयपदी है। संयमी गुरु के पास ही विद्यार्थी अध्ययनार्थ आते हैं।

४५. पृथिवी सुखद हो

स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी ।
यच्छास्मै शर्म सप्रथाः ॥

अथर्व० १८-२-१९

अन्वय—हे पृथिवि, अस्मै स्योना अनृक्षरा निवेशनी भव । सप्रथाः (त्वम्) अस्मै शर्म यच्छ ।

शब्दार्थ—(हे पृथिवि) हे पृथिवी, (अस्मै) इसके लिए, मनुष्य के लिए, (स्योना) सुखद, (अनृक्षरा) निष्कंटक, निर्बाध, कष्टरहित, (निवेशनी) निवासयोग्य स्थान देने वाली, वास-योग्य, (भव) हो । (सप्रथाः त्वम्) अत्यन्त विस्तृत तुम, (अस्मै) इस मनुष्य को, (शर्म) सुख, कल्याण, (यच्छ) दो ।

हिन्दी अर्थ--हे पृथिवी ! तुम मनुष्य के लिए सुखद, निर्बाध और वास-योग्य होओ । अत्यन्त विस्तृत तुम मनुष्य को सुख दो ।

Eng. Tr.—O Earth ! may you be comfortable, free from hindrances and worth living to the mankind. May you, stretching far and wide, bestow happiness upon the man.

अनुशीलन—इस मंत्र में पृथिवी को सुखद और निष्कंटक बनाने की कामना की गई है । समाज सुखी तभी रह सकता है, जब संसार में शान्ति, व्यवस्था, संपन्नता और सामंजस्य हो । इसी उद्देश्य से पृथ्वी से सुख के विस्तार की प्रार्थना की गई है ।

संसार को सुखी या दुःखी बनाना मनुष्य का काम है । समाज में, राष्ट्र में, संसार में, यदि सद्भावना, सद्विचार और दूसरे के हित की कामना है तो संसार सुखमय होगा । यदि केवल स्वार्थ-परता, पर-शोषण और धन-पशुता है तो संसार नरक होगा । मानव-समाज के लिए दोनों मार्ग खुले हैं । वह जैसा करेगा, वैसा फल पाएगा ।

टिप्पणी—(१) **स्योना**—सुखद । स्योन–सुख, सुखकर । (२) **अनृक्षरा**—निष्कंटक, कांटे-रहित, निर्बाध । ऋक्षर–कांटा । (३) **निवेशनी**—प्रवेश-योग्य,

निवास-योग्य स्थान वाली । नि + विश् (प्रवेश-करना) + ल्युट् (अन) + ङीप् (ई) । (४) **यच्छ**—दो । दा (यच्छ्, देना. भ्वादि, पर०) + लोट् म० १ । (५) **शर्म**—सुख, कल्याण । शर्मन् (नपुं०) + द्वि० १ । (६) **सप्रथाः**—अत्यन्त विस्तृत पृथिवी । सप्रथस् प्र० १ ।

४६. पृथ्वी से सभी सुख प्राप्त हों

अस्मे वो अस्त्विन्द्रियम्, अस्मे नृम्णम्,
उत क्रतुरस्मे, वर्चांसि सन्तु वः ।
नमो मात्रे पृथिव्यै, नमो मात्रे पृथिव्यै,
इयं ते राड् यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः ।
कृष्यै त्वा, क्षेमाय त्वा, रय्यै त्वा, पोषाय त्वा ॥

यजु० ९-२२

अन्वय—(हे देवाः) वः इन्द्रियम् अस्मे अस्तु, नृम्णम् अस्मे (अस्तु), उत क्रतुः अस्मे (अस्तु), वः वर्चांसि (अस्मे) सन्तु । पृथिव्यै मात्रे नमः, पृथिव्यै मात्रे नमः । इयं ते राट्, यन्ता असि, यमनः ध्रुवः धरुणः असि । त्वा कृष्यै, त्वा क्षेमाय, त्वा रय्यै, त्वा पोषाय (आह्वयामः) ।

शब्दार्थ—(हे देवाः) हे देवो, (वः) तुम्हारा, (इन्द्रियम्) बल, वीर्य या शक्ति (अस्मे अस्तु) हममें हो । (नृम्णम् अस्मे अस्तु) तुम्हारा धन या वैभव हममें हो । (उत) और, (क्रतुः अस्मे) तुम्हारी कर्मठता हममें हो । (वः वर्चांसि०) तुम्हारा तेज हममें हो । (नमो मात्रे पृथिव्यै) पृथिवी माता को प्रणाम । (इयं ते राट्) हे राजन्, यह तुम्हारा राज्य है । (यन्ता असि) तुम इसके नियन्ता हो । (यमनः) स्वयं नियम या संयम में रहने वाले, (ध्रुवः) निश्चल, अचल, स्थिर, (धरुणः असि) धारक या पालक हो । (त्वा कृष्यै) तुम्हें कृषि की उन्नति के लिए, (त्वा क्षेमाय) तुम्हें कल्याण के लिए, (त्वा रय्यै) तुम्हें धन या समृद्धि की प्राप्ति के लिए, (त्वा पोषाय) तुम्हें पुष्टि या पोषण के लिए हम पुकारते हैं, बुलाते हैं ।

हिन्दी अर्थ—हे देवो ! तुम्हारी शक्ति हममें हो, तुम्हारा वैभव हममें हो, तुम्हारी कर्मठता हममें हो, तुम्हारी तेजस्विता हममें हो । पृथिवी

माता को प्रणाम, पृथिवी माता को प्रणाम। हे राजन्, यह तेरा राज्य है। तुम नियन्ता हो, तुम स्वयं जितेन्द्रिय हो, तुम स्थिर हो और तुम प्रजा के धारक हो। तुम्हें कृषि की उन्नति के लिए, तुम्हें जन-कल्याण के लिए, तुम्हें धन-समृद्धि के लिए और जनता के पोषण के लिए बुलाते हैं।

Eng. Tr.—O Gods ! let your energy, wealth, deligence and brilliance be in us. Obeisance to the mother-like earth. O King ! it is your kingdom. You are it's controller, self-controlled, firm and supporter of the subjects. May we invite you for the agricultural development, human welfare, prosperity and abundance.

अनुशीलन—इस मंत्र में पृथिवी को माता के रूप में संबोधित किया गया है और उसे नमस्कार किया गया है। राजा से प्रार्थना की गई है कि वह पृथिवी का ठीक नियन्त्रण करे, जिससे समाज को सभी प्रकार का सुख और ऐश्वर्य मिले।

पृथिवी हमारी माता है। हम पृथिवी के पुत्र हैं। पुत्र का कर्तव्य है कि वह माता का हितचिन्तक हो। यदि संसार में सुख शान्ति और सद्भावना का प्रसार है तो माता भी प्रसन्न है। यदि पृथिवी पर अशान्ति ही अशान्ति है तो माता खिन्न और चिन्तित होगी। माता पुत्रों के लिए अपना सर्वस्व अर्पण करती है। पृथिवी सभी प्रकार के अन्न आदि देती है। पर्वत, सागर, भूमि, जल, वायु संसार के हित के लिए ही हैं। इनकी समृद्धि करना, इनको सुरक्षित, स्वच्छ और पवित्र रखना, मानवमात्र का कर्तव्य है।

सभी पृथिवी के पुत्र हैं, अतः संसार के सभी मनुष्य भाई हैं। यदि यह भावना हृदय से ग्रहण की जाए तो विश्वबन्धुत्व का प्रसार हो सकता है।

इस मन्त्र में राजा का कर्तव्य बताया गया है कि वह पृथिवी पर सुन्दर व्यवस्था रखे। अशान्ति और अव्यवस्था का उत्तरदायित्व राजा पर डाला गया है। राजा का ठीक नियंत्रण न होने से अव्यवस्था, हिंसा, अनाचार और दुष्कृत्य फैलते हैं।

यदि राजा की व्यवस्था ठीक रहती है तो पृथिवी सोना उगलती है। कृषि ठीक होती है। प्रजा में सन्तोष और शान्ति का निवास होता है। धन-धान्य की वृद्धि होती है और योगक्षेम होता है। इसका ही फल बताया गया है कि जनता में शक्ति का संचार होता है, कर्मठता आती है, धन आता है और तेजस्विता आती है।

टिप्पणी—(१) **अस्मे**—हममें, हमारे लिए। अस्मासु के स्थान पर अस्मे है। (२) **इन्द्रियम्**—बल, वीर्य, शक्ति। (३) **क्रतुः**—कर्म, पुरुषार्थ, कर्मठता। (४) **राट्**—राज्य। राज् (राज्य) + प्र० १। (५) **यन्ता**—नियन्ता, नियन्त्रण करने वाला। (६) **यमनः**—स्वयं नियम या संयम से रहने वाला। इसका नियमन या नियन्त्रण करने वाला भी अर्थ है। (७) **ध्रुवः**—निश्चल, अडिग, दृढ़ विचारों वाला। (८) **धरुणः**—धारक, प्रजाजनों का धारक। (९) **रय्यै**—धन या समृद्धि के लिए। रयि (धन) + च० १। (१०) **पोषाय**—पुष्टि के लिए, प्रजा के पोषण के लिए।

४७. स्वराज्य जन्मसिद्ध अधिकार है

यस्य ते नू चिदादिशं, न मिनन्ति स्वराज्यम्।
न देवो नाध्रिगुर्जनः॥

ऋग्० ८-९३-११

अन्वय—यस्य ते आदिशं स्वराज्यं नू चित् न मिनन्ति। न देवः न अध्रिगुः जनः।

शब्दार्थ—(यस्य ते) जिस तेरे, (आदिशम्) आदेश को, आज्ञा को, आदेशरूप, (स्वराज्यम्) स्वराज्य को, स्वायत्त शासन को, (नू चित्) कोई भी, कभी भी, (न) नहीं, (मिनन्ति) नष्ट कर सकते हैं, रोक सकते हैं। (न देवः) न कोई देवता, (न) नहीं, (अध्रिगुः जन) कोई बलिष्ठ, अजेय या शक्तिशाली व्यक्ति।

हिन्दी अर्थ—तेरे (परमात्मा के) आदेशरूप स्वराज्य को कोई कभी भी नहीं रोक सकता है, न कोई देवता और न कोई अजेय व्यक्ति।

Eng. Tr.—Neither any divine force, nor any invincible person can check the freedom of a nation, which is the command of the Supreme Being.

अनुशीलन—इस मंत्र में शिक्षा दी गई है कि स्वराज्य मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। परमात्मा का आदेश है कि मनुष्य स्वतंत्र है। संसार की कोई भी शक्ति उसे परतन्त्र नहीं रख सकती है।

मंत्र में कहा गया है कि चाहे कोई देवता हो या कोई बलवान् हो, वह स्वराज्य की भावना को दबा नहीं सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि शासक चाहे शुभ विचारों वाला हो, या अत्यन्त शक्तिशाली हो, वह प्रेम से या बल-प्रयोग से स्वराज्य की भावना को नष्ट नहीं कर सकता। स्वाधीनता की भावना आन्तरिक प्रेरणा है। यह स्वतंत्र होने तक मनुष्य को शान्ति से नहीं बैठने देती है। विदेशी राजा सज्जन हो या दुर्जन, सदाचारी हो या अत्याचारी, उसकी प्रवृत्ति सदा शोषण की रहती है। वह स्वार्थसिद्धि के लिए सदा जन-साधारण का शोषण करता रहता है, अतः मंत्र ने शिक्षा दी है कि मनुष्य चाहे किसी देश या राष्ट्र का हो, उसे स्वतंत्र रहने का पूर्ण अधिकार है। किसी की स्वाधीनता छीनना महान् अत्याचार है, जिसका विरोध करना जनसाधारण का कर्तव्य है।

टिप्पणी—(१) **नू चित्**—कोई भी, कभी भी। नू चित् का 'कभी नहीं' भी अर्थ है। (२) **आदिशम्**—आदेश को, आज्ञा को। आदिश् (आज्ञा) + द्वि० १। (३) **न मिनन्ति**—नहीं नष्ट कर सकते हैं, नहीं रोक सकते हैं। मी (नष्ट करना, क्र्यादि, पर०) + लट् प्र० ३। (४) **स्वराज्यम्**—स्व—अपना, राज्यम्—राज्य। (५) **अध्रिगुः**—अधर्षणीय, अजेय, शक्तिशाली। अ—नहीं, ध्रिगुः—रोकने योग्य, जीतने योग्य। स्वराज्य को रोकने की शक्ति किसी में नहीं है, चाहे वह देवता हो या कोई अजेय व्यक्ति।

४८. जनतन्त्र का महत्त्व

इमं देवा असपत्नꣳ सुवध्वं महते क्षत्राय,
महते ज्यैष्ठ्याय, महते जानराज्याय, इन्द्रस्येन्द्रियाय ॥

यजु० ९-४०

अन्वय—हे देवाः, इमं महते क्षत्राय, महते ज्यैष्ठ्याय, महते जानराज्याय, इन्द्रस्य इन्द्रियाय, असपत्नं सुवध्वम् ।

शब्दार्थ—(हे देवाः) हे देवो, (इमम्) इसको, इस राजा को, (महते क्षत्राय) महान् क्षात्रधर्म के लिए, (महते ज्यैष्ठ्याय) महान् ज्येष्ठता या गौरव के लिए, (महते जानराज्य) महान् जनराज्य या जनतंत्र के लिए, (इन्द्रस्य इन्द्रियाय) जीवात्मा के शौर्य के लिए या आत्मज्ञान की शक्ति के लिए, (असपत्नम्) शत्रुरहित करते हुए, (सुवध्वम्) प्रेरित करो ।

हिन्दी अर्थ—हे देवो ! तुम इस राजा को महान् क्षात्र-धर्म के लिए, महान् गौरव के लिए, महान् जनराज्य या जनतंत्र के लिए, आत्मज्ञान के सामर्थ्य के लिए, प्रेरित करो तथा इसे शत्रुरहित करो ।

Eng. Tr.—O Gods ! may you impel this king for heroic deeds, for glory, for Democracy and for introspection. Let hi be free from the enemies.

अनुशीलन—इस मंत्र में महान् जनराज्य का उल्लेख है । जनराज्य को ही गण-राज्य, संघ-राज्य, प्रजातंत्र-राज्य और लोकतंत्र-सत्ता कहते हैं । मंत्र में इसका बहुत महत्त्व बताया गया है ।

जन-राज्य जनता का राज्य है । जन-समूह इसका संचालन करता है । इसमें नियन्त्रण या नियमन की शक्ति जनता के हाथ में होती है । अतः जनता अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करती है । इस गौरव से ही आत्म-गौरव और ज्येष्ठता एवं श्रेष्ठता प्राप्त होती है । अतएव मंत्र में इस आत्मगौरव को **'महते ज्येष्ठ्याय'** महान् ज्येष्ठता कहा है । जनराज्य की दूसरी विशेषता **'महते क्षत्राय'** महान् क्षात्र-बल बताई है । इसमें जनता का मनोबल उच्च रहता है, अतः आन्तरिक शक्ति और उत्साह की प्रधानता होती है ।

जनराज्य की तीसरी विशेषता **'इन्द्रस्येन्द्रियाय'** बताई है । इसमें इन्द्र का इन्द्रियत्व अर्थात् जीवात्मा का आत्मबल प्रबल होता है । एक ओर आस्तिकता की भावना प्रबल होने से जीव आत्मज्ञान की ओर प्रवृत्त होता है, दूसरी ओर समाज

में शक्ति और आत्मिक बल की मात्रा बढ़ती है। स्व की रक्षा करनी है, अतः सर्वस्व न्योछावर कर भी स्व को, स्वदेश को, बचाने की प्रेरणा मिलती है।

अन्त में कामना की गई है कि जनतंत्र के शत्रुओं का नाश हो, विघ्नों का नाश हो और शान्ति की स्थापना हो।

टिप्पणी—(१) **असपत्नम्**—शत्रुरहित। अ—नहीं, सपत्नम्—शत्रु। (२) **सुवध्वम्**—प्रेरित करो। सू (प्रेरणा देना, तुदादि, आ०) + लोट् म० ३। (३) **क्षत्राय**—क्षात्रधर्म के लिए। शूरकर्म एवं वीरकर्म के लिए। (४) **ज्यैष्ठ्याय**—ज्येष्ठता के लिए, गौरव या महत्त्व के लिए। ज्येष्ठ + ष्यञ् (य) + च० १। भाव अर्थ में ष्यञ्। (५) **महते जानराज्याय**—महान् जनराज्य या जनता के राज्य के लिए। जान—जनता का, राज्य—आधिपत्य। जनराज्य से जानराज्य बना है। (६) **इन्द्रस्य०**—इन्द्र का अर्थ जीवात्मा है, उसकी सामर्थ्य के लिए। यहाँ अर्थ है—आत्मज्ञान की सामर्थ्य के लिए। इन्द्रिय का अर्थ शक्ति या सामर्थ्य है।

४९. विश्वहित के लिए राष्ट्रोन्नति

सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त,
जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त,
विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त,
स्वराज स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त ॥

यजु० १०-४

अन्वय—(हे देवाः) सूर्यवर्चसः स्थ, राष्ट्रदाः राष्ट्रं मे दत्त। जनभृतः स्थ, राष्ट्रदाः राष्ट्रं मे दत्त। विश्वभृतः स्थ, राष्ट्रदाः राष्ट्रं मे दत्त। स्वराजः स्थ, राष्ट्रदाः राष्ट्रम् अमुष्मै दत्त।

शब्दार्थ—(हे देवाः) हे देवो, (सूर्यवर्चसः स्थ) सूर्य के तुल्य तेज वाले हो। (राष्ट्रदाः) राष्ट्र के देने वाले हो, (राष्ट्रं मे दत्त) मुझे सूर्य के तुल्य तेजस्वी राष्ट्र दो। (जनभृतः स्थ) हे देवो, तुम जनमात्र के पालक हो, (राष्ट्रदाः) राष्ट्र के देने वाले हो, (राष्ट्रं मे दत्त) मुझे जन-कल्याण वाला राष्ट्र दो। (विश्वभृतः स्थ) हे देवो,

तुम विश्व के पालक हो, (राष्ट्रदाः) राष्ट्र के देने वाले हो, (राष्ट्रं मे दत्त) मुझे विश्वहित या विश्वबन्धुत्व वाला राष्ट्र दो। (स्वराजः स्थ) हे देवो, तुम स्वयं प्रकाशमान हो, (राष्ट्रदाः) राष्ट्र के देने वाले हो, (राष्ट्रम् अमुष्मै दत्त) इसे स्वराज्य वाला राष्ट्र दो।

हिन्दी अर्थ—हे देवो ! तुम सूर्य के तुल्य तेज वाले हो, राष्ट्र के देने वाले हो। मुझे (सूर्य सा तेजस्वी) राष्ट्र दो। हे देवो ! तुम जन-कल्याणकारी हो, राष्ट्र के देने वाले हो। मुझे (जन-कल्याणकारी) राष्ट्र दो। हे देवो ! तुम विश्व के पालक हो, राष्ट्र के देने वाले हो। तुम मुझे (विश्व-कल्याणकारी) राष्ट्र दो। हे देवो ! तुम स्वयं प्रकाशमान हो, राष्ट्र के देने वाले हो। इसे (स्वराज्य वाला) राष्ट्र दो।

Eng.Tr.—O Gods ! you are glorious like the sun and bestower of the nation. May you bestow a sun-shining nation upon me. O Gods ! you are beneficial and bestower of the nation. May you confer a bounteous nation upon me.

O Gods ! you are supporters of the universe and bestower of the nation. May you bestow a nation wishing welfare of the world, upon me.

O Gods ! you are self-radiant and bestower of the nation. May you confer a free nation upon him.

अनुशीलन—इस मंत्र में स्वराज्य के साथ स्वराज्य के उद्देश्यों पर प्रकाश डाला गया है। स्वराज्य के तीन उद्देश्य हैं—१. जनता में तेजस्विता, २. जन-कल्याण, ३. विश्व-कल्याण।

राष्ट्र के साथ स्वराज्य का संबन्ध जोड़ा गया है। उत्तम राष्ट्र वही है, जहां स्वराज् या स्वराज्य हो। जहाँ स्वराज्य है वहाँ उसके उद्देश्यों की पूर्ति भी होनी चाहिए। स्वतंत्र राष्ट्र का प्रथम कर्तव्य है कि जनसाधारण में तेजस्विता आवे। इस तेजस्विता के लिए मंत्र में **'सूर्यवर्चस्'** शब्द दिया गया है। जनता में सूर्य

सी तेजस्विता हो। यह तेजस्विता कब आ सकती है ? जब जनता का चरित्र उच्च होगा और उनमें आत्मिक बल की मात्रा अधिक होगी।

स्वराज्य का दूसरा उद्देश्य है—जनकल्याण। मंत्र में इसको **'जनभृत्'** शब्द से कहा गया है। जिसमें जनता का भरण-पोषण या कल्याण हो, उसे जनभृत् कहते हैं। यदि जन-कल्याण नहीं होता है तो वह स्वराज्य अपने लक्ष्य से च्युत है।

स्वराज्य का तीसरा उद्देश्य है —विश्वकल्याण। इसको **'विश्वभृत्'** शब्द से कहा गया है। प्रत्येक राष्ट्र केवल अपनी ही राष्ट्रीय उन्नति का ध्यान न रखे। अपितु स्व-हित के साथ विश्व-हित और विश्व-बन्धुत्व का भी ध्यान रखे। यदि इन तीनों बातों का ध्यान रखा जाता है तो प्रत्येक राष्ट्र स्वयं स्वतंत्र रहते हुए विश्व-शान्ति और विश्वबन्धुत्व में सहायक हो सकता है।

टिप्पणी—(१) यह 'सूर्यत्वचस०' मंत्र का संक्षिप्त अंश है। (२) **सूर्यवर्चसः**—सूर्य के तुल्य तेज वाले। सूर्यवर्चस् + प्र० ३। (३) **स्थ**—हो। अस् (होना) + लट् म० ३। (४) **राष्ट्रदाः**—राष्ट्र को देने वाले। राष्ट्र + दा + प्र० ३। (५) **दत्त**—दो। दा (देना, जुहो०, पर०) + लोट् म० ३। (६) **जनभृतः**—जन-प्रजाजन, जनता के, भृतः-पालने वाले। जनभृत् + प्र० ३। (७) **विश्वभृतः**—विश्व-संसार के, भृतः—पालने वाले। विश्वभृत् + प्र० ३। (८) **स्वराजः**—स्वयं प्रकाशमान, स्वराज्य वाले। स्वराज् + प्र० ३।

५०. सभी देशवासी संपन्न हों

भूमे मातर्नि धेहि मा, भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।
संविदाना दिवा कवे, श्रियां मा धेहि भूत्याम्॥

अथर्व० १२-१-६३

अन्वय—हे मातः भूमे, मा भद्रया सुप्रतिष्ठितं नि धेहि। हे कवे, दिवा संविदाना मा श्रियां भूत्यां धेहि।

शब्दार्थ—(हे मातः भूमे) हे मातृभूमि, (मा) मुझको, (भद्रया) शुभ लक्ष्मी से, (सुप्रतिष्ठितम्) अत्यन्त प्रतिष्ठित, (नि धेहि) रखो, बनावो। (हे कवे) हे

क्रान्तदर्शी पृथिवी, (दिवा संविदाना) द्युलोक से संबद्ध रहती हुई, (मा) मुझको, (श्रियाम्) संपत्ति में, (भूत्याम्) ऐश्वर्य में, (धेहि) रखो।

हिन्दी अर्थ—हे मातृभूमि! तुम मुझे शुभ लक्ष्मी से सुप्रतिष्ठित करो। हे क्रान्तदर्शी पृथिवी! तुम द्युलोक से संबद्ध रहती हुई मुझे श्री और वैभव से युक्त करो।

Eng. Tr.—O Mother-like Earth! may you stabilize me with the pious wealth. O omniscient Earth! you having your contacts with the heaven, make me wealthy and prosperous.

अनुशीलन—इस मंत्र में पृथ्वी-माता से प्रार्थना की गई है कि वह सभी को सुखी और समृद्ध करे। कोई भी पृथिवी का पुत्र निर्धन और असहाय न रहे।

इसके लिए मंत्र में एक उपाय सुझाया गया है। वह है द्युलोक से संपर्क बनाए रखना। द्युलोक से पृथिवी का क्या संपर्क हो सकता है? इस संपर्क का साधन सूर्य स्वयं है। सूर्य पृथिवी को प्रकाश देता है। वह भापरूप में जल को लेकर संसार में वृष्टि करता है। पृथिवी का जल भाप बनकर बादल बनता है। वह वर्षा के द्वारा संसार के सभी वृक्ष-वनस्पतियों को जीवन देता है, नदियों को प्रवाहित करता है और संसार को जीवनी शक्ति देता है। यह प्राकृतिक यज्ञ है।

इसका ही अनुकरण यज्ञ या देव-यज्ञ है। यज्ञ के द्वारा मनुष्य देवों से और द्युलोक से अपना संबन्ध स्थापित करता है। यज्ञ के द्वारा वृष्टि करने वाले तत्त्वों का समन्वय होता है और वर्षा होती है। यज्ञ से देवों की पुष्टि और तुष्टि होती है। प्रसन्न देवगण वर्षा के द्वारा मानव को तुष्ट और पुष्ट करते हैं। यह है मानव का द्युलोक से संपर्क स्थापित होना। इसको अत्यन्त सुन्दर रूप में गीता में कहा गया है कि यज्ञ के द्वारा देवों को प्रसन्न करो और देव तुम्हें प्रसन्न करें। इस प्रकार दोनों दोनों को प्रसन्न करते हुए सदा कल्याण को प्राप्त करो।

देवान् भावयतानेन, ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः, श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ गीता ३-११

टिप्पणी—(१) **मातः भूमे**—हे मातृभूमि, हे जन्मभूमि । (२) **नि धेहि**—रखो, करो । नि + धा (रखना, जुहोत्यादि, पर०) + लोट् म० १ । (३) **मा**—मुझको । माम् के स्थान पर मा है । (४) **भद्रया**—भद्र या शुभ लक्ष्मी से । भद्रा का अर्थ शुभ बुद्धि भीहो सकता है । भद्रा + तृ० १ । (५) **सुप्रतिष्ठितम्**—अत्यन्त प्रतिष्ठित । सु + प्रति + स्था (रुकना) + क्त (त) । आ को इ आदेश । (६) **दिवा संविदाना**—द्युलोक से संबद्ध रहते हुए या संपर्क बनाए हुए तुम । दिव् (द्युलोक) + तृ० १ । सम् + विद् (जानना) + शानच् (आन) + टाप् (आ) पृथिवी पर यज्ञ और द्युलोक या आकाश से वर्षा, यह दोनों का परस्पर संबन्ध है । (७) **कवे**—हे क्रान्तदर्शी । पृथिवी मानव के भावों को जानती है । (८)**श्रियां भूत्याम्**—श्री–संपत्ति, भूति–वैभव, ऐश्वर्य, समृद्धि । श्री में चंचलता है, भूति में स्थिरता है ।

५१. मातृभूमि के योग्य पुत्र सिद्ध हों

यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं,
यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः ।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व,
माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ॥

अथर्व० १२-१-१२

अन्वय—हे पृथिवि, यत् ते मध्यम्, यत् च नभ्यम्, ते याः ऊर्जः तन्वः संबभूवुः, तासु नः धेहि, नः अभि पवस्व । भूमिः माता, अहं पृथिव्याः पुत्रः ।

शब्दार्थ—(हे पृथिवि) हे पृथिवी, (यत्) जो, (ते) तेरे, (मध्यम्) मध्य में हैं । (यत् च) और जो, (नभ्यम्) नाभि या केन्द्र-स्थान में हैं । (ते) तेरे (याः) जो, (ऊर्जः तन्वः) ऊर्जस्वी शरीर या शरीरधारी मनुष्य, (संबभूवुः) उत्पन्न हुए हैं । (तासु) उन शरीरधारियों में, (नः) हमें, (धेहि) रखो, (नः) हमें (अभि पवस्व) पूर्णतया पवित्र करो । (भूमिः माता) पृथिवी हमारी माता है, (अहम्) मैं, (पृथिव्याः पुत्रः) पृथिवी का पुत्र हूँ ।

हिन्दी अर्थ—हे पृथिवी ! जो तेरे मध्यभाग में हैं और जो नाभि या

केन्द्र में हैं, तेरे जो ऊर्जस्वी शरीरधारी मनुष्य हैं, उन शरीरधारियों में हमें रखो और हमें पूर्णतया पवित्र करो। पृथिवी हमारी माता है और मैं पृथिवी का पुत्र हूँ।

Eng. Tr.—O Earth ! kindly purify and place us amidst those persons, who live in the middle or centre and possess robust health. The earth is my mother and I am her son.

अनुशीलन—वेदों के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सुभाषितों में यह सुभाषित है—'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः' पृथिवी माता है और हम उसके पुत्र हैं।

हमारा और पृथिवी का संबन्ध माता और पुत्र का है। पृथिवी हमारे लिए कंकड़, पत्थर, धूल और पर्वतों आदि का समूह ही नहीं है, अपितु एक सजीव माता के तुल्य है। माता और पुत्र का संबन्ध मानने पर कुछ माता के कर्तव्य हैं और कुछ पुत्र के। दोनों को अपने-अपने कर्तव्यों का निर्वाह करना चाहिए। माता जननी है, अतः उसे अपनी सन्तान की रक्षा करनी चाहिए और पुत्र का कर्तव्य है—माता की रक्षा करना, माता पर कोई संकट न आने देना। पुत्र का अर्थ किया गया है—पुत् (नरक) + त्र = पुत्र। नरक या दुर्गति से बचाने वाले को पुत्र कहते हैं। (मनु० ९-१३८)

पुन्नाम्नो नरकात् त्रायत इति पुत्रः।

मन्त्र में पृथिवी-माता से प्रार्थना की गई है कि वह अपने योग्यतम पुत्रों में हमें स्थान दे। पृथिवी के ऊर्जस्वी शरीर उसके सुयोग्य पुत्र हैं। जिन महापुरुषों ने अपनी मातृभूमि के लिए सर्वस्व न्योछावर किया है, अपने प्राण दिए हैं और उसकी रक्षा में बलिदान हुए हैं, वे माता के सच्चे पुत्र हैं। मातृभूमि के प्रत्येक व्यक्ति में ऐसा भाव भरा हुआ हो कि हमें मातृभूमि की रक्षा करनी है और आवश्यकता पड़ने पर उसके लिए आत्म-बलिदान तक कर देंगे, तभी हम मातृभूमि के सुयोग्य पुत्र सिद्ध हो सकेंगे।

टिप्पणी—(१) **मध्यम्**—जो मध्यभाग में हैं। (२) **नभ्यम्**—नाभिप्रदेश में, अर्थात् केन्द्रस्थान में हैं। नाभि + य, नाभि को नभ् आदेश। (३) **ऊर्जः तन्वः**—

ऊर्जः—बलवान्, ऊर्जस्वी, तन्वः—शरीर अर्थात् शरीरधारी मनुष्य । तनू (शरीर) + प्र० ३ । (४) **संबभूवुः**—उत्पन्न हुए हैं । सम् + भू (होना, भ्वादि, पर०) + लिट् प्र० ३ । (५) **धेहि**—रखो । धा (रखना, जुहो० पर०) + लोट् म० १ । (६) **अभि पवस्व**—पूर्णतया पवित्र करो । अभि—चारों ओर से, पूर्णतया । पू (पवित्र करना, भ्वादि, आ०) + लोट् म० १ ।

५२. राष्ट्ररक्षा में सदा जागरूक हों

वाजस्येमं प्रसवः सुषुवेऽग्रे,
सोमꣳ राजानमोषधीष्वप्सु ।
ता अस्मभ्यं मधुमतीर्भवन्तु,
वयꣳराष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा ॥

यजु० ९-२३

अन्वय—वाजस्य प्रसवः अग्रे ओषधीषु अप्सु इमं सोमं राजानं सुषुवे । ताः अस्मभ्यं मधुमतीः भवन्तु । वयं राष्ट्रे जागृयाम, पुरोहिताः (स्याम), स्वाहा ।

शब्दार्थ—(वाजस्य) शक्ति या बल के, (प्रसवः) उत्पादक, आदिकारण, परमात्मा ने, (अग्रे) पहले, सृष्टि के आदि में, (ओषधीषु) ओषधियों या वनस्पतियों में, (अप्सु) जल में, (इमं सोमं राजानम्) इस सोम राजा को, सोम-तत्त्व को, (सुषुवे) उत्पन्न किया । (ताः) वे ओषधियां और जल, (अस्मभ्यम्) हमारे लिए, (मधुमतीः) मधुरता-युक्त, सरस एवं मधुर, (भवन्तु) होवें । (वयम्) हम, (राष्ट्रे) राष्ट्र में, देश में, राष्ट्ररक्षा में, (जागृयाम) जागते रहें, सदा जागरूक रहें । (पुरोहिताः स्याम) अग्रगामी, सदा आगे रहने वाले हों । (स्वाहा) एतदर्थ आहुति देते हैं ।

हिन्दी अर्थ—शक्ति के आदिस्रोत परमात्मा ने सर्वप्रथम वनस्पतियों और जल में सोम राजा को (सोमतत्त्व को) उत्पन्न किया । वे वनस्पतियां और जल हमारे लिए मधुर हों । हम राष्ट्ररक्षा में जागरूक रहें और सदा अग्रगण्य हों । एतदर्थ आहुति दते हैं ।

Eng. Tr.—The God, source of energy, produced Soma in the herbs and the waters. May the hurbs and the waters be sweet to us. Let us be foremost and ever-alert in protecting the nation. For this we offer oblations.

अनुशीलन—इस मंत्र में शिक्षा दी गई कि राष्ट्र की सुरक्षा के लिए हम सदा जागरूक रहें। मंत्र ५१ में बताया गया है कि पृथ्वी माता है और हम उसके पुत्र है। पुत्र का कर्तव्य है कि माता की सुरक्षा का पूरा ध्यान रखे।

इस मंत्र में स्पष्ट किया गया है कि किसी भी राष्ट्र या देश की सुरक्षा वहाँ के निवासियों की जागरूकता पर निर्भर है। जहाँ व्यक्ति सावधान हैं, जागरूक हैं और कर्तव्यनिष्ठ हैं, वहाँ शत्रु आक्रमण करने का साहस नहीं कर सकते हैं। जहाँ असावधानी, प्रमाद और आलस्य है, वहीं पर बाहरी आक्रमण होते हैं। राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति में जागरूकता हो, इसके लिए राष्ट्र के प्रत्येक स्तर पर कार्य करना आवश्यक है। देश को ऊँचा उठाना या गिराना, यह युवकों पर निर्भर है। युवावर्ग यदि अपने कर्तव्यों को ठीक समझकर उच्च चरित्र वाला होगा, तो देश आगे बढ़ेगा, अन्यथा नहीं।

मंत्र में दूसरी बात कही गई है कि सृष्टि का प्रारम्भ जल से हुआ है। उपनिषदों आदि में भी सृष्टि का प्रारम्भ जल से माना गया है। जलीय सृष्टि के बाद ओषधियां और वनस्पतियां हुई। उनसे आगे सृष्टि क्रम चला। जल और वनस्पतियां मानवमात्र के लिए शुभ एवं हितकर हों, यह प्रार्थना मंत्र में की गई है।

टिप्पणी—(१) **वाजस्य**—बल या शक्ति का। वाज के अर्थ वीर्य, बल और अन्न हैं। (२) **प्रसवः**—जन्मदाता, आदि कारण। प्रसूतेऽसौ प्रसवः जन्मदाता। यहाँ परमात्मा अर्थ है। (३) **सुषुवे**—उत्पन्न किया, जन्म दिया। सू (जन्म देना, अदादि, आ०) + लिट् प्र० १। (४) **सोमं राजानम्**—राजा सोम को। यहाँ सोमतत्त्व से अभिप्राय है। (५) **ओषधीषु०**—जल और वनस्पतियों से सृष्टि का विकास हुआ है। (६) **राष्ट्रे**—राष्ट्र में, देश में, राष्ट्र की रक्षा में। (७) **जागृयाम**—

जागते रहें, जागरूक रहें। जागृ (जागना, अदादि, पर०) + विधि० उ० ३। (८) **पुरोहिताः**—अग्रगामी, अग्रगण्य। पुरोहित का अर्थ है—आगे रहने वाला। पुरः—आगे, हित–रखा हुआ। पुरः एनं दधति इति पुरोहितः, सब कामों में आगे रहने से पुरोहित होता है। पुरस् + धा (रखना, जुहो०) + क्त (त)। धा को हि आदेश।

५३. देश के लिए बलिदान हों

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा
अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना,
वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥

अथर्व० १२-१-६२

अन्वय—हे पृथिवि, ते उपस्थाः अनमीवाः अयक्ष्माः, (ते) प्रसूताः अस्मभ्यं सन्तु। नः आयुः दीर्घम् (स्यात्)। प्रतिबुध्यमानाः वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम।

शब्दार्थ—(हे पृथिवि) हे पृथिवी, (ते) तेरे, (उपस्थाः) गोद में रहते हुए, (अनमीवाः) रोगरक्षित, (अयक्ष्माः) स्वस्थ, क्षयरोगरहित हों। (ते प्रसूताः) तेरी संतान, तुमसे उत्पन्न लोग, (अस्मभ्यम्) हमारे लिए, हमारी सहायता के लिए, (सन्तु) हों। (नः) हमारी, (आयुः) आयु, (दीर्घं स्यात्) लम्बी हो। (प्रतिबुध्यमानाः) ज्ञानवान् एवं जागरूक रहते हुए, (वयम्) हम, (तुभ्यम्) तेरे लिए, (बलिहृतः) बलि देने वाले, बलिदान होने वाले, (स्याम) होवें।

हिन्दी अर्थ—हे पृथिवी ! तेरी गोद में रहते हुए हम नीरोग और क्षय आदि रोगों से रहित (स्वस्थ) हों। तेरी सन्तान हमारे लिए हितकर हो। हमारी आयु लम्बी हो। हम जागरूक रहते हुए तेरे लिए बलिदान हों।

Eng. Tr.—O Earth ! may we, living in your lap, be free from all sorts of diseases. May your progeny be conducive to us. Let us have long life. May we, remaining ever-vigilant, be prepared for any kind of sacrifice for your welfare.

अनुशीलन— इस मंत्र में देशवासियों के लिए आदेश है कि वे सदा हृष्ट-पुष्ट रहें। वे नीरोग और स्वस्थ हों। वे सदा जागरूक रहते हुए देश-रक्षार्थ बलिदान होने के लिए संनद्ध रहें।

अपने देश की रक्षा करना, महान् व्रत है। इस रक्षा के लिए सैकड़ों, हजारों लाखों व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। जब देशवासियों में, विशेषकर युवावर्ग में, प्राणोत्सर्ग की भावना जागृत की जाती है तो वे आवश्यकता पड़ने पर देश के लिए बलिदान होते हैं। भारत के स्वाधीनता-संग्राम का पूरा इतिहास ऐसे नर-रत्नों से भरा हुआ है, जिन्होंने देश के लिए हंसते-हंसते अपने प्राण अर्पित कर दिए। ये फांसी के तख्ते पर खड़े होकर भी प्रसन्न-मुद्रा में रहे और निरन्तर मातृभूमि का गुण गाते रहे। यह जागरण की भावना सभी देशवासियों में आवश्यक है। इसका ही इस मंत्र में वर्णन किया गया है।

टिप्पणी—(१) **उपस्थाः**—गोद में, गोद में रहने वाले। उपस्थ का अर्थ गोद है। (२) **अनमीवाः**—रोगरहित। अन्—नहीं, अमीव—रोग। (३) **अयक्ष्माः**—क्षय-रोग रहित, नीरोग, स्वस्थ। (४) **प्रसूताः**—उत्पन्न व्यक्ति, सन्तान। प्र + सू (जन्म देना) + क्त (त)। (५) **प्रतिबुध्यमानाः**—प्रबुद्ध रहते हुए, जागरूक रहते हुए। प्रति + बुध् (जानना, जागना, दिवादि) + कर्मवाच्य य + शानच् (आन)। (६) **बलिहृतः**—बलि देने वाले, बलिदान होने वाले। बलि का अर्थ कर या टैक्स भी है। बलिहृत् + प्र० ३।

५४. देश के लिए जीवनदान दें

ये युध्यन्ते प्रधनेषु, शूरासो ये तनूत्यजः।
ये वा सहस्रदक्षिणाः, तांश्चिदेवापि गच्छतात्॥

ऋग्० १०-१५४-३; अथर्व० १८-२-१७;
तैत्ति० आर० ६-३-२

अन्वय—ये शूरासः प्रधनेषु युध्यन्ते, ये तनूत्यजः, ये वा सहस्रदक्षिणाः, तान् चित् एव अपि गच्छतात्।

शब्दार्थ—(ये शूरासः) जो शूरवीर, (प्रधनेषु) युद्धों में, (युध्यन्ते) युद्ध करते हैं, (ये तनूत्यजः) जो अपने शरीर का त्याग करते हैं, अर्थात् युद्धों में अपने प्राण दे देते हैं, (ये वा) अथवा जो, (सहस्रदक्षिणाः) यज्ञों में हजारों रुपए दान देते हैं, (तान् चित् एव) उनके पास, (अपि गच्छतात्) जाओ।

हिन्दी अर्थ—हे वीरो! जो शूरवीर संग्रामों में युद्ध करते हैं, जो युद्धों में अपने प्राण दे देते हैं, अथवा जो यज्ञों में सहस्रों रुपए दान देते हैं, उनके पास तुम जाओ।

Eng. Tr.—O Heroes! may you approach to those braves, who fight in the battles, who lay their lives in the battles and who liberally distribute money in thousands.

अनुशीलन—इस मंत्र में वीरों का गुणगान किया गया है। ये वीर दो प्रकार हैं—रणवीर और दानवीर। देश के लिए दोनों प्रकार के वीरों की आवश्यकता है।

रणवीर या युद्धवीर वे हैं, जो देश की सुरक्षा के लिए अपने प्राणों की चिन्ता न करके युद्धों में जाते हैं, शत्रुओं से संघर्ष करते हैं, शत्रुओं का अस्तित्व समाप्त करते हैं या स्वयं अपने प्राणों की आहुति देते हैं। ये हैं वे वीर, जो किसी राष्ट्र का सिर ऊँचा उठाते हैं। ये वीर धन्य हैं और इनको जन्म देने वाली माताएं भी धन्य हैं। मंत्र का कथन है कि ऐसे वीरों का अनुकरण करें।

दूसरे प्रकार के वीर दानवीर हैं। देश की आवश्यकता के समय ये मुक्तहस्त से धन का दान करते हैं। यदि समाज का क्षत्रिय वर्ग अपने प्राणों की आहुति देकर समाज और देश की रक्षा करता है तो वैश्यवर्ग धन का दान करके देश-रक्षा के पवित्र कार्य में महत्त्वपूर्ण योगदान करता है। मंत्र में ऐसे दानवीरों को 'सहस्र-दक्षिणाः' कहा है। ये आवश्यकतानुसार हजारों और लाखों की संपत्ति देश-रक्षा के लिए देते हैं।

ये दोनों प्रकार के वीर समाज और राष्ट्र के लिए आदर्श है और अनुकरणीय हैं।

टिप्पणी—(१) **युध्यन्ते**—युद्ध करते हैं। युध् (लड़ना, दिवादि, आ०) + लट् प्र० ३। (२) **प्रधनेषु**—संग्रामों में, युद्धों में। युद्धों में अधिक धन की प्राप्ति होती है, अतः उसे प्र (अधिक) + धन (संपत्ति) कहा है। (३) **तनूत्यजः**—शरीर छोड़ने वाले, प्राण देने वाले। तनू + त्यज् (छोड़ना) + क्विप् (०) + प्र० ३। (४) **सहस्र दक्षिणाः**—हजारों दक्षिणा में देने वाले। (५) **गच्छतात्**—जाओ। गम् (गच्छ्, जाना, भ्वादि) + लोट् म० १। म० १ में तात् प्रत्यय है।

५५. सैकड़ों शत्रु-सेनाओं को जीतें

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो
घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्।
संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः,
शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः॥

ऋग्० १०-१०३-१; साम० १८४९;
यजु० १७-३३, अथर्व० १९-१३-२;
तैत्ति० सं० ४-६-४-१; निरुक्त १-१५

अन्वय—आशुः शिशानः वृषभः न भीमः, घनाघनः, चर्षणीनां क्षोभणः, संक्रन्दनः अनिमिषः एकवीरः इन्द्रः शतं सेनाः साकम् अजयत्।

शब्दार्थ—(आशुः) तीव्रगति, (शिशानः) तीक्ष्ण अस्त्रधारी, तीक्ष्ण बुद्धि, (वृषभः न) सांढ़ की तरह, (भीमः) भयंकर, (घनाघनः) भयंकर योद्धा, शत्रुओं का नाशक, (चर्षणीनाम्) मनुष्यों को, शत्रुओं को, (क्षोभणः) क्षुब्ध करने वाला, भयभीत करने वाला, (संक्रन्दनः) योद्धाओं का आह्वान करने वाला, शत्रुओं को युद्ध के लिए पुकारने वाला, (अनिमिषः) निर्निमेष दृष्टि, अत्यन्त सावधान, (एकवीरः) अद्वितीय वीर, (इन्द्रः) इन्द्र ने, (शतं सेनाः) शत्रुओं की सैकड़ों सेनाओं को, (साकम्) साथ ही, एक बार में ही, (अजयत्) जीत लिया।

हिन्दी अर्थ—तीव्र-गति, तीक्ष्ण अस्त्रधारी, सांढ़ की तरह भयंकर, शत्रु-नाशक, शत्रुओं के लिए भयावह, शत्रुओं को युद्धार्थ पुकारने वाले, अति

सावधान, अद्वितीय वीर, इन्द्र ने शत्रुओं की सैकड़ों सेनाओं को एक साथ ही जीत लिया।

Eng. Tr. –Lord Indra, swift-moving, possessing sharp weapons, fearful like a bull, destroyer of the enemies, terrible to the foes, challenging the rivals, ever-vigilant and a unique hero, conquered hundred armies simultaneously.

अनुशीलन—इस मंत्र में युद्धवीर का चित्रण किया गया है। उसके कार्यों साधनों और सफलताओं का इसमें निर्देश है। इसमें देवसेना के नायक इन्द्र के पराक्रम का उल्लेख है कि किस प्रकार उसने शत्रुओं की सैकड़ों सेनाओं को एक साथ जीत लिया।

इन्द्र ने शत्रुओं की सैकड़ों सेनाओं को जीत लिया, इसका रहस्य उसका आत्म-बल, निर्भीकता और साधन-संपन्नता है। शत्रुओं को जीतने के लिए आवश्यक है कि—वीर में तीव्रता हो, उसके शस्त्रास्त्र उच्चकोटि के हों, उसमें निर्भीकता हो, युद्धविद्या में निपुण हो, असाधारण शक्ति-सम्पन्न हो, एकाग्रचित्त हो और अपने कार्य को सर्वतोभावेन करने वाला हो। ये सारे गुण इन्द्र में हैं, अतः वह सदा विजयी होता है। अतएव मंत्र में कहा गया है कि उसने एक बार में ही शत्रुओं की सैकड़ों सेनाओं को जीत लिया। देश के प्रत्येक वीर के सामने इन्द्र का आदर्श होगा तो वह जीवन में कभी भी पराजित नहीं होगा। मानव का सारा जीवन ही एक संघर्ष या युद्ध है। इसमें उसे विजय प्राप्त करनी है। केवल युद्ध में ही विजय प्राप्त करना लक्ष्य नहीं है, अपितु जीवन के प्रत्येक संघर्ष में विजयी होना मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिए।

टिप्पणी—(१) **शिशानः**—तीक्ष्ण अस्त्र वाला। शो (तीक्ष्ण करना, दिवादि) + लिट् > कानच् (आन)। द्वित्व होकर शिशान बना है। जिसने अपने अस्त्रों या वज्र को तेज कर रखा है। अतः तीक्ष्णतायुक्त, तीक्ष्ण बुद्धि भी अर्थ है। (२) **वृषभः न**—सांढ़ के सदृश। न–सदृश। (२) **घनाघनः**—बार बार प्रहार करने वाला, भयंकर लड़ने वाला। हन् (मारना) धातु से हनाहनः, उसका ही घना-घनः रूप बना है। (४) **क्षोभणः**—क्षुब्ध करनेवाला, भयभीत करनेवाला।

क्षुभ् + ल्यु (अन) । (५) **चर्षणीनाम्**—मनुष्यों, शत्रुओं का । चर्षणि (मनुष्य) + ष० ३ । (६) **संक्रन्दनः**—शत्रुओं को युद्ध के लिए पुकारने वाला या चैलेन्ज देने-वाला । क्रन्द् (चिल्लाना) + अन । (७) **अनिमिषः**—पलक न मारने वाला, अत्यन्त सावधान । (८) **एकवीरः**—अद्वितीय या अनुपम वीर । (९) **अजयत्**—जीता, जीत लिया । जि (जीतना, भ्वादि, पर०) + लङ् प्र० १ । (१०) **साकम्**—साथ ही, एक साथ, एक बार में ।

५६. हमारे वीर अजेय हों

प्रेता जयता नर, इन्द्रो वः शर्म यच्छतु ।
उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ ॥

ऋग्० १०-१०३-१३, साम० १८६२;
यजु० १७-४६; अथर्व० ३-१९-७;
तैत्ति० सं० ४-६-४-४

अन्वय—हे नरः, प्र इत, जयत । इन्द्रः वः शर्म यच्छतु । वः बाहवः उग्राः सन्तु, यथा अनाधृष्याः असथ ।

शब्दार्थ—(हे नरः) हे मनुष्यो, हे योद्धाओ, (प्र इत) जाओ, प्रस्थान करो । (जयत) जीतो, विजय प्राप्त करो । (इन्द्रः) परमात्मा, (वः) तुम्हें, (शर्म) कल्याण, सुख, (यच्छतु) दे । (वः) तुम्हारे, (बाहवः) भुजाएं, हाथ, (उग्राः) उग्र, प्रचंड बल वाले, (सन्तु) हों । (यथा) जिससे, जिस प्रकार, (अनाधृष्याः) अधर्षणीय, अजेय, (असथ) होओ ।

हिन्दी अर्थ—हे योद्धा मनुष्यों ! तुम प्रस्थान करो और विजय-लाभ करो । परमात्मा तुम्हारा कल्याण करे । तुम्हारी भुजाएँ उग्र (प्रचण्डबल वाली) हों, जिससे तुम लोग अजेय हो सको ।

Eng. Tr.—O Heroes ! may you march past and be victorious. May God protect you. Let your arms be mighty and make you invincible.

अनुशीलन—इस मंत्र में राष्ट्र के वीरों की सर्वत्र विजय की कामना की गई है। किसी भी समाज या राष्ट्र की रक्षा का भार योद्धाओं पर होता है। देश पर बाहरी आक्रमण का सदा भय रहता है। उससे रक्षा करने वाले सैनिक होते हैं।

इस मंत्र में सैनिकों को प्रोत्साहित किया गया है कि वे सदा आगे बढ़ते रहें, सदा संनद्ध रहें और कभी भी हतोत्साह न हों। जहाँ उत्साह और पराक्रम है, वहाँ सफलता अवश्यंभावी है। वीरों में आत्म-विश्वास का भाव सदा जागृत रहना चाहिए। आत्म-विश्वास से दुष्कर कार्य भी सुकर हो जाता है। वीरों को आत्म-विश्वास के साथ युद्ध करना है और शत्रु को जीतना है। शत्रु को जीतने के लिए भुजाओं में असाधारण बल चाहिए, आवश्यक अस्त्र-शस्त्र चाहिएं और परमात्मा की कृपा चाहिए। मंत्र में पुरुषार्थ के साथ परमात्मा की कृपा को भी आवश्यक बताया गया है। जो सत्य का पक्ष लेता है, परमात्मा उसका सहायक होता है। उसकी कृपा से वीरों में असाधारण शौर्य और बल आ जाता है।

टिप्पणी—(१) **प्रेत**—प्र–उत्कृष्ट ढंग से, इत—जाओ। प्र + इ (जाना, अदादि, पर०) + लोट् म० ३। प्रेता में छान्दस दीर्घ है। (२) **जयत**—जीतो, विजय पाओ। जि (जीतना, भ्वादि, पर०) + लोट् म० ३। जयता में छान्दस दीर्घ है। (३) **नरः**—हे लोगो, मनुष्यो। यहाँ योद्धाओं से अभिप्राय है। (४) **यच्छतु**—दे। दा (यच्छ्, देना, भ्वादि, पर०) + लोट् प्र० १। (५) **उग्राः**—प्रचंड, भयंकर। (६) **अनाधृष्याः**—अधर्षणीय, अजेय, कभी न हारने वाले। (७) **असथ**—होओ। अस् (होना, अदादि, पर०) + लेट् म० ३।

५७. सभी वीर और विजयी हों

शूरग्रामः सर्ववीरः सहावान्-
जेता पवस्व सनिता धनानि।
तिग्मायुधः क्षिप्रधन्वा समत्सु-
अषाढः साह्वान् पृतनासु शत्रून्॥

ऋग्० ९-९०-३; साम० १४०९

अन्वय—(हे सोम) शूरग्रामः सर्ववीरः सहावान् जेता धनानि सनिता, तिग्मायुधः क्षिप्रधन्वा, समत्सु अषाढः, पृतनासु शत्रून् साह्वान् पवस्व ।

शब्दार्थ—(हे सोम) हे सोम, हे शान्तगुणयुक्त परमात्मन्, (शूरग्रामः) शूर-समूह से युक्त हो, (सर्ववीरः) सभी वीरों से युक्त हो। (सहावान्) बलशाली, शक्तिशाली, (जेता) विजेता, (धनानि सनिता) धन के दाता, (तिग्मायुधः) तीक्ष्ण शस्त्र-धारी, (क्षिप्रधन्वा) तीव्रगति वाला धनुष धारण करने वाले, (समत्सु) युद्धों में, (अषाढः) अजेय, (पृतनासु) शत्रुसेनाओं में, (शत्रून्) शत्रुओं को, (साह्वान्) जीतने वाले, (पवस्व) पवित्र करो ।

हिन्दी अर्थ—हे सोम ! तुम शूर-समूह से युक्त हो, तुम्हारे सभी साथी वीर हैं। तुम शक्तिशाली, विजेता, धनों के दाता हो। तुम तीक्ष्ण शास्त्र-धारी, तीक्ष्ण धनुर्धर, युद्धों में अजेय, प्रतिपक्षी सेनाओं में शत्रुओं को जीतने वाले हो। तुम हमें पवित्र करो ।

Eng. Tr.—O Soma ! you are accompanied with the heroes. All your companions are brave. You are powerful, victorious and bestower of wealth. You are equipped with the sharp missiles, possess a swift bow, are invincible and conqueror of the foes. May you purify us.

अनुशीलन—इस मंत्र में वीर के गुणों का वर्णन किया गया है। वीर में कुछ आन्तरिक गुण चाहिएँ। उसे विजय के लिए आवश्यक सुविधाएँ भी प्राप्त होनी चाहिएँ। उनका ही यहाँ निर्देश है।

वीर के प्रमुख गुण हैं—अजेयता, शक्तिसंपन्नता, वीरत्व की भावना और मनोबल की उत्कृष्टता। जब वीर में आत्म-विश्वास होगा, तभी वह युद्ध में अपराजित रहेगा। मनोबल उसमें दिव्य स्फूर्ति भरता है। आत्म-विश्वास और मनोबल शूर-वीर को योद्धाओं की प्रथम श्रेणी में खड़ा कर देते हैं। जहाँ अधृष्यता और अदम्यता है, वहाँ पराजय का नाम नहीं है। अतएव मंत्र में वीर के लिए सहावान्, अषाढः और साह्वान् शब्द दिए हैं। ये विशेषण वीर की अजेयता के सूचक हैं।

मंत्र में वीर के लिए आवश्यक साधनों का भी उल्लेख किया गया है। योद्धा के पास आधुनिकतम शस्त्र-अस्त्र चाहिएँ। तिग्मायुधः से इसका संकेत है। योद्धा को अपने कर्तव्य में अतिनिपुण होना चाहिए। वह शस्त्रादि को बहुत कुशलता से चला सके और शत्रु के प्रहार को निष्फल कर सके। तभी संग्राम में विजयी हो सकेगा। मंत्र में शूरग्रामः और सर्ववीरः से संकेत है कि शूरों के ग्राम होने चाहिएँ, जहाँ सारे व्यक्ति वीर और योद्धा हों। जहाँ वीरों के ग्राम होंगे, वहाँ उनकी उत्तम सैनिक शिक्षा की भी व्यवस्था हो सकेगी।

टिप्पणी—(१) **शूरग्रामः**—वीरों के समूह से युक्त। ग्राम-संघ, समूह। (२) **सर्ववीरः**—जिसके सभी साथी वीर हैं। (३) **सहावान्**—शक्तिशाली, बलवान्। सह (विजय, बल) + मतुप् (मत्) + प्र० १। म् को व्। अ को आ। (४) **जेता**—विजेता, विजयी। जि (जीतना) + तृ + प्र० १। (५) **पवस्व**—पवित्र करो। पू (पवित्र करना, भ्वादि, आ०) + लोट् म० १। (६) **सनिता**—देने वाले। सन् (देना) + तृ + प्र० १। (७) **तिग्मायुधः**—तिग्म-तीक्ष्ण, आयुधः-शस्त्र वाला। (८) **क्षिप्रधन्वा**—क्षिप्र-तीव्र, तीव्रगति वाले, धन्वा-धनुष वाला। क्षिप्रधन्वन् + प्र० १। (९) **समत्सु**—युद्धों में। समद् (युद्ध) + स० ३। (१०) **अषाढः**—अजेय, अविजित। नञ् (अ) + सह् (जीतना) + क्त (त)। (११) **साह्वान्**—शत्रु का जेता, जिसने शत्रुओं को जीता है। सह् (जीतना) + लिट् क्वसु (वस्) = साह्वस् + प्र० १। (१२) **पृतनासु**—सेनाओं में। शत्रुसेना अर्थ है। पृतना (सेना) + स० ३।

५८. उठो, शत्रुओं को भगावो

उत् तिष्ठत सं नह्यध्वम्, उदाराः केतुभिः सह।
सर्पा इतरजना रक्षांसि-अमित्राननु धावत॥

अथर्व० ११-१०-१

अन्वय—हे उदाराः, केतुभिः सह उत् तिष्ठत, सं नह्यध्वम्। हे सर्पाः, हे इतरजनाः, हे रक्षांसि, अमित्रान् अनु धावत।

शब्दार्थ—(हे उदाराः) हे महान् सेनानायको, (केतुभिः सह) अपनी ध्वजाओं के साथ, (उत् तिष्ठत) उठो, (सं नह्यध्वम्) तैयार हो जाओ। (हे सर्पाः) हे नाग लोगो, (हे इतरजनाः) हे अन्य जति के योद्धाओ, (हे रक्षांसि) हे राक्षसो, हे क्रूर आचरण वाले योद्धाओ, (अमित्रान् अनु) शत्रुओं के पीछे, (धावत) दौड़ो, आक्रमण करो।

हिन्दी अर्थ—हे महान् सेनानायको! तुम अपनी ध्वजाओं के साथ उठो और तैयार हो जाओ। हे नागजाति के लोगो! हे अन्य लोगो! हे राक्षसो! तुम सभी शत्रुओं पर आक्रमण करो।

Eng. Tr.—O Commanders! arise with your flags and be ready. O people of Naga-tribe! O people of other races! O Demons! may all of you attack the enemies.

अनुशीलन—इस मंत्र में वीरों को युद्ध के लिए तैयार होने और शत्रुओं को भगाने का निर्देश है। इस मंत्र में शिक्षा दी गई है कि सेना के पास अपने झंडे या ध्वज होने चाहिए। सेना अपने झंडों के साथ आगे बढ़े।

उत्तिष्ठत और **संनह्यध्वम्** से निर्देश है कि सेनानायक लोग सदा सावधान रहें। वे संकेत पाते ही तुरन्त तैयार हो सकें और शत्रु को प्रहार करने का अवसर न दें। इसके विपरीत वे स्वयं आगे बढ़ें और शत्रुओं पर प्रहार करें। मंत्र में यह भी निर्देश है कि शत्रुसेना पर आक्रमण के लिए अपने सहयोगी भी चाहिएँ। जहाँ से जो भी सहयोगी मिलें, उनको इकट्ठा करके शत्रुओं पर धावा बोल देना चाहिए और उन्हें भगा कर ही छोड़ना चाहिए।

टिप्पणी—(१) **उत्तिष्ठत**—उठो। उद् + स्था (तिष्ठ्, उठना, भ्वादि, पर०) + लोट् म० ३। (२) **सं नह्यध्वम्**—तैयार हो जाओ। सं + नह् (तैयार होना, दिवादि, आ०) + लोट् म० ३। (३) **उदाराः**—उदार या उच्च विचार वाले, महान्। सेनापतियों के लिए है। (४) **सर्पाः**—सर्प। हे नाग जाति के योद्धाओ। (५) **इतरजनाः**—हे अन्य जाति के योद्धाओ। (६) **रक्षांसि**—हे राक्षसो, हे क्रूर आचरण वाले योद्धाओ। (७) **अमित्रान् अनु**—शत्रुओं के पीछे, शत्रुओं पर। (८) **धावत**—दौड़ो, आक्रमण करो। धाव् (दौड़ना, भ्वादि, पर०) + लोट् म० ३।

५९. समाज में हार्दिक एकता हो

सहृदयं सांमनस्यम्, अविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत, वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥

अथर्व० ३-३०-१

अन्वय—सहृदयं सांमनस्यम् अविद्वेषं वः कृणोमि । जातं वत्सम् अघ्न्या इव, अन्यः अन्यम् अभिहर्यत ।

शब्दार्थ—(सहृदयम्) सहृदयता, प्रेमभाव, (सांमनस्यम्) एकचित्तता, मन का शुभ विचारों से युक्त होना, (अविद्वेषम्) द्वेष से रहित होना, (वः) तुम्हारे लिए, (कृणोमि) मैं करता हूँ। (जातम्) शीघ्र उत्पन्न, (वत्सम्) बछड़े को, (अघ्न्या इव) जैसे गाय, उसी प्रकार, (अन्यः अन्यम्) परस्पर, एक-दूसरे से, (अभि हर्यत) प्रेम करो।

हिन्दी अर्थ—हे मनुष्यो ! मैं (परमात्मा) सहृदयता, सांमनस्य और द्वेषहीनता तुम्हारे लिए उत्पन्न करता हूँ। नवजात बछड़े को जैसे गाय प्रेम करती है, उसी प्रकार तुम सब परस्पर प्रेमभाव रखो।

Eng. Tr.—O Men ! I (God) give you the qualities of whole-heartedness, similar mentality and fellow-feeling without enmity. As the cow loves her new calf, so you should love your fellow-neighbour.

अनुशीलन—इस मन्त्र में संगठन के लिए चार बातों पर ध्यान आकृष्ट किया गया है। वे हैं—१. हृदय की एकता, २. मन की एकता, ३. द्वेष का अभाव, ४. प्रेम और सद्भाव। मन्त्र ३८ में हृदय और मन की एकता की आवश्यकता का वर्णन किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है—द्वेष का अभाव, द्वेष का परित्याग। लक्ष्य आदि एक होने पर भी यदि संगठित होने वाले समाज में पारस्परिक द्वेष है, कलह है, ईर्ष्या है और मनोमालिन्य है, तो वह समाज सुसंगठित नहीं हो सकता है। अतः आवश्यक है कि संगठन को सुदृढ़ करने के लिए पारस्परिक द्वेष, मनोमालिन्य और ईर्ष्या को तिलांजलि

दी जाए। इसके अतिरिक्त अन्य आवश्यकता है—पारस्परिक प्रेम और सहानुभूति की। जैसे गाय अपने नए बछड़े से घनिष्ट प्रेम करती है। उसके लिए प्राण देने को भी उद्यत रहती है। इसी प्रकार यदि समाज में घनिष्ट प्रेम का प्रवाह होगा, एक दूसरे के लिए प्राण देने को उद्यत रहेंगे और सदा एक दूसरे का हित-चिन्तन करेंगे, तो वह समाज अवश्यमेव सुसंगठित होगा।

टिप्पणी—(१) **सहृदयम्**—सहृदयता। समानं हृदयम्, समान को स। (२) **सांमनस्यम्**—शुभ मन वाला होना। सं + मनस् + ष्यञ् (य)। भाव अर्थ में ष्यञ्। (३) **अविद्वेषम्**—द्वेषहीनता। अ + विद्वेष। (४) **कृणोमि**—करता हूँ। कृ (करना, स्वादि) + लट् उ० १। (५) **वः**—तुम्हारे लिए। युष्मद् + च० ३। युष्मभ्यम् के स्थान पर वः है। (६) **अभि हर्यत**—चाहो, प्रेम करो। हर्य् (चाहना, प्रसन्न होना, भ्वादि) + लोट् म० ३। (७)**अघ्न्या**—गाय। अघ्न्या अहन्तव्या, गाय अवध्य होती है, अतः उसे अघ्न्या कहते हैं। नञ् + हन् + यक् (य) + टाप् (आ)। उणादि से सिद्ध होता है।

६०. परस्पर सदा सहायता करें

अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुं,
ज्याया हेतिं परिबाधमानः।
हस्तघ्नो विश्वा वयुनानि विद्वान्,
पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः॥

ऋग्० ६-७५-१४; यजु० २९-५१;
तैत्ति० सं० ४-६-६-५; निरुक्त ९-१५

अन्वय—हस्तघ्नः ज्यायाः हेतिं परिबाधमानः, अहिः इव भोगैः बाहुं पर्येति। विश्वा वयुनानि विद्वान्, पुमान् पुमांसं विश्वतः परि पातु।

शब्दार्थ—(हस्तघ्नः) हस्तत्राण, प्रकोष्ठत्राण, दस्ताना, कलाई पर बांधा जाने वाला चमड़े का पट्टा, (ज्यायाः) प्रत्यंचा के, धनुष की डोरी के, (हेतिम्) आघात को, चोट को या रगड़ को, (परिबाधमानः) रोकने वाला, (अहिः इव) सांप की

तरह, (भोगैः) अपने शरीर से, (बाहुम्) बाहु को, अर्थात् प्रकोष्ठ या कलाई को, (पर्येति) लपेट लेता है। (विश्वा) सभी, (वयुनानि) कर्मों को, ज्ञानों को, (विद्वान्) जानने वाला, (पुमान्) मनुष्य, (पुमांसम्) मनुष्य की, (विश्वतः) चारों ओर से, (परिपातु) रक्षा करे।

हिन्दी अर्थ—प्रकोष्ठ-त्राण (कलाई पर बांधा हुआ चमड़े का पट्टा) प्रत्यंचा के आघात को रोकता हुआ, सांप की तरह अपने शरीर से हाथ (प्रकोष्ठ) को लपेट लेता है। वह सभी कर्मों को जानता है। पुरुष पुरुष की चारों ओर से रक्षा करे।

Eng. Tr.—The hand-guard, protecting the hand against the injuries of the bow-string, wraps the hanb like an encircling serpent. He know all our deeds. A man should save the other.

अनुशीलन—इस मंत्र में हाथ पर रक्षार्थ बांधे गए हस्तत्राण या लोहे के दस्ताने का उदाहरण देते हुए शिक्षा दी गई है कि युद्ध के समय प्रत्येक व्यक्ति परस्पर सहयोग करे। हर एक आदमी दूसरे आदमी की रक्षा का ध्यान रखे।

युद्ध हो या संकट-काल हो, उस समय परस्पर सहयोग की अत्यन्त आवश्यकता होती है। किसी पर भी किसी क्षण विपत्ति आ सकती है। अतः एक दूसरे की रक्षा के लिए सदा उद्यत रहने की शिक्षा दी गई है। यदि इस प्रकार का सहयोग सामाजिक और राष्ट्रीय कार्यों में होता है तो बड़ी सरलता से विपत्ति का प्रतिकार संभव होता है।

टिप्पणी—(१) **अहिरिव भोगैः**—भोग का अर्थ फणा और शरीर है। सांप जिस प्रकार अपने फण और शरीर से किसी को लपेट लेता है, उसी प्रकार हस्तत्राण या चमड़े का पट्टा हाथ की कलाई को लपेट लेता है। (२) **पर्येति**—लपेट लेता है। परि + इ (जाना, अदादि, पर०) + लट् प्र० १। (३) **बाहुम्**—हाथ को। यहां प्रकोष्ठ या कलाई अर्थ है। (४) **ज्यायाः हेतिम्**—प्रत्यंचा या धनुष की डोरी की रगड़ को। हेति का अर्थ अस्त्र है। यहाँ प्रत्यंचा की चोट या रगड़ अर्थ

है। (५) **परिबाधमानः**—रोकता हुआ। परि + बाध् (रोकना, भ्वादि, आ०) + शानच् (आन)। (६) **हस्तघ्नः**—हाथ का रक्षक। यहाँ प्रकोष्ठ या कलाई के रक्षक चमड़े के पट्टे के लिए है। हस्तघ्न चमड़े का दस्ताना या पट्टा है। हस्तं हन्ति प्राप्नोति इति हस्तघ्नः, हस्त + हन् + क (अ)। (७) **विश्वा**—सभी। विश्वानि का संक्षिप्त रूप है। (८) **वयुनानि**—कर्मों को। वयुन का अर्थ ज्ञान भी है। (९) **पुमान् पुमांसम्**—पुरुष पुरुष की रक्षा करे। हस्तघ्न और योद्धा पुरुष दोनों पुंलिग शब्द हैं। (१०) **परिपातु**—रक्षा करे। परि + पा (रक्षा करना, अदादि, पर०) + लोट् प्र० १।

६१. समाज के सभी वर्ग समृद्ध हों

य ओजिष्ठस्तमा भर, पवमान श्रवाय्यम्।
यः पञ्च चर्षणीरभि, रयिं येन वनामहै॥

ऋग्० ९-१०१-९; साम० ८२०

अन्वय—हे पवमान, यः ओजिष्ठः (रसः), तं श्रवाय्यं (रसम्) आ भर। यः पञ्च चर्षणीः अभि (तिष्ठति), येन रयिं वनामहै।

शब्दार्थ—(हे पवमान) हे पवित्र-कर्ता सोम, (यः) जो, (ओजिष्ठः रसः) तुम्हारा सबसे शक्तिशाली रस है, (तम्) उस, (श्रवाय्यम्) प्रशंसनीय रस को, (आभर) लाओ, हमारे लिए लाओ। (यः) जो रस, (पञ्च चर्षणीः) पांचों प्रकार के लोगों में, निषाद या अतिशूद्र-सहित चारों वर्णों में, (अभितिष्ठति) व्याप्त है। (येन) जिस रस से, (रयिम्) धन को, (वनामहै) हम प्राप्त कर सकें।

हिन्दी अर्थ—हे पवित्र करने वाले सोम! तुम्हारा जो सबसे अधिक शक्तिशाली रस है, उस प्रशंसनीय रस को हमें दो। जो पांचों प्रकार के मनुष्यों में व्याप्त है और जिससे हम ऐश्वर्य को प्राप्त कर सकें।

Eng. Tr.—O Purifying Soma! may you bestow the most powerful juice to us, which pervades all the five classes of the men, so that we may attain the prosperity.

अनुशीलन—इस मंत्र में परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि समाज के सभी वर्ग ओजस्वी और समृद्ध हों। परमात्मा में ओजस्विता है। वह सभी शक्तियों का स्रोत है। वह ऐश्वर्य का भी दाता है। वह अपने भक्तों को ओज और धन देता है। मंत्र में प्रार्थना है कि वह समाज के सभी लोगों को ओजस्विता दे। सभी उत्कृष्ट ऐश्वर्य प्राप्त करें। समाज में जीवनी शक्ति हो, संपन्नता हो, सश्रीकता हो और यशस्विता हो, यही मंत्र द्वारा कामना की गई है।

टिप्पणी—(१) **ओजिष्ठः**—सबसे अधिक ओजस्वी या शक्तिशाली। ओजस् (बल, शक्ति) + इष्ठन् (इष्ठ) + प्र० १। अस् का लोप। (२) **आ भर**—आहर, लाओ। आ + हृ (लाना, भ्वादि, पर०) + लोट् म० १। हृ् को भ् आदेश। (३) **पवमान**—पवित्र करने वाले। पू (पवित्र करना, भ्वादि, आ०) + शानच् (आन)। सोम के लिए संबोधन है। (४) **श्रवाय्यम्**—श्रवणीय, प्रशंसनीय। श्रु (सुनना) + आय्य। चाहिए अर्थ में आय्य प्रत्यय है। (५) **पंच चर्षणीः**—पाचों प्रकार के लोगों में। चर्षणि—मनुष्य। पांच प्रकार के मनुष्य हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अतिशूद्र या निषाद। (६) **अभि**—अभितिष्ठति, व्याप्त है। (७) **वनामहे**—प्राप्त करें। वन् (पाना, जीतना, भ्वादि, आ०) + लेट् उ० ३।

६२. समाज के सभी अंग तेजस्वी हों

सꣳशितं मे ब्रह्म, सꣳशितं वीर्यं बलम्।
सꣳशितं क्षत्रं जिष्णु, यस्याहमस्मि पुरोहितः॥

यजु० ११-८१

अन्वय—मे ब्रह्म संशितम् वीर्यं बलं संशितम्। यस्य अहं पुरोहितः अस्मि, (तत्) क्षत्रं जिष्णु संशितम्।

शब्दार्थ—(मे) मेरा, (ब्रह्म) ज्ञान, ब्रह्मशक्ति, ब्राह्मणत्व, (संशितम्) तीक्ष्ण है। (वीर्यम्) मेरा पराक्रम, (बलम्) शारीरिक बल, (संशितम्) तीक्ष्ण है। (यस्य) जिसका, (अहम्) मैं, (पुरोहितः) पुरोहित, (अस्मि) हूँ, (तत् क्षत्रम्) वह क्षत्रियवंश भी, (जिष्णु) विजयी, विजयशील, (संशितम्) तीक्ष्ण हो गया है।

हिन्दी अर्थ—मेरा ज्ञान तीक्ष्ण है। मेरा पराक्रम और शारीरिक बल भी तीक्ष्ण है। मैं जिसका पुरोहित हूँ, वह क्षत्रियवंश भी विजयी और तीक्ष्ण हो गया है।

Eng. Tr.—My knowledge, strength and vigour are penetrating. The family of the king, whose priest I am, has also become sharp and victorious.

अनुशीलन—इस मंत्र में पुरोहित के कर्तव्यों का निर्देश है। पुरोहित समाज का अग्रगण्य व्यक्ति है। वह स्वयं आचार-विचार, शिक्षा-दीक्षा में सर्वोत्तम होकर समाज के अन्य अंगों को समुन्नत करे।

पुरोहित का अर्थ है—जो आगे रखा जाए। जो प्रत्येक कार्य में आगे रखा जाता है, उसे पुरोहित कहते हैं। 'पुरः एनं दधति इति पुरोहितः'। अतएव मंत्र में कहा गया है कि पुरोहित का ज्ञान, आचरण और बल सर्वोत्तम होना चाहिए। जिसका आचार-विचार शुद्ध होगा, जो ज्ञान की प्रभा से भास्वर होगा, जो शिक्षा-दीक्षा में सर्वश्रेष्ठ होगा, वही पुरोहित होने का अधिकारी है। पुरोहित का कर्तव्य है कि वह समाज को और राजा को ठीक मार्ग बतावे। प्रचीन समय में पुरोहित वेदादि शास्त्रों का विद्वान् होता था, अतः वह राजा का मार्ग-दर्शन करता था। वह युद्धों में भी राजाओं के साथ जाता था और युद्ध में विजय के उपाय बताता था। वह राजा का एक अभिन्न अंग माना जाता था। अतएव मंत्र में कहा गया है कि मैं जिस राजा का पुरोहित रहता हूँ, वह राजा सदा विजयी होता है।

टिप्पणी—(१) **संशितम्**—तीक्ष्ण, तीव्र, पैना किया हुआ। सम् + शो (शा, तीक्ष्ण करना, पैना करना, दिवादि, पर०) + क्त (त)। आ को इ आदेश। (२) **ब्रह्म**—ज्ञान, ब्रह्मशक्ति या ब्रह्मणत्व। ब्रह्मन् (ज्ञान, नपुं०) + प्र० १। (३) **वीर्यम्**—वीर्य, पराक्रम। इन्द्रियों की शक्ति को वीर्य कहते हैं। भोजन का सारभाग वीर्य है। (४) **बलम्**—शारीरिक शक्ति। (५) **क्षत्रम्**—क्षत्रशक्ति, क्षत्रिय वंश। क्षत + त्र = क्षत्र। क्षति से रक्षा करने वाला। (६) **जिष्णु**—जयनशील, विजयी। जि (जीतना) + स्नु। नपुं० प्र० १। (७) **पुरोहितः**—पुरोहित,

मार्गदर्शक। पुरस् (आगे) + धा (रखना) + क्त (त)। धा को हि आदेश। जिसको प्रत्येक काम में आगे रखा जाता है।

६३. चारों वर्णों के कर्तव्य

ब्रह्मणे ब्राह्मणं, क्षत्राय राजन्यम्,
मरुद्भ्यो वैश्यं, तपसे शूद्रम् ॥

यजु० ३०-५

अन्वय—ब्रह्मणे ब्राह्मणम्, क्षत्राय राजन्यम्, मरुद्भ्यः वैश्यम्, तपसे शूद्रम्।

शब्दार्थ--(ब्रह्मणे) ज्ञान के लिए, वेदज्ञान के लिए, (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण को उत्पन्न किया। (क्षत्राय) क्षात्रधर्म के लिए, राष्ट्र की सुरक्षा के लिए, (राजन्यम्) क्षत्रिय को उत्पन्न किया। (मरुद्भ्यः) मरुतों या वायुदेवों के कार्य के लिए, आदान-प्रदान के लिए, (वैश्यम्) वैश्य को उत्पन्न किया। (तपसे) तपस्या, कष्ट-साध्य या श्रम-साध्य कार्यों के लिए, (शूद्रम्) शूद्र को उत्पन्न किया।

हिन्दी अर्थ—परमात्मा ने ज्ञान (वेद-ज्ञान) के लिए ब्राह्मण को, रक्षा-कार्य के लिए क्षत्रिय को, आदान-प्रदान के लिए वैश्य को और श्रम-साध्य कार्यों के लिए शूद्र को उत्पन्न किया।

Eng. Tr.—The God has created the Brahmanas for learning, the Kshatriyas for protection, the Vaishyas for trade and the Shudras for the physical labour.

अनुशीलन—इस मन्त्र में चारों वर्णों के कर्तव्यों का विधान है। चारों वर्ण अपने निर्धारित कर्मों को करें, जिससे समाज की व्यवस्था ठीक चल सके।

समाज को गुण-कर्म के आधार पर चार भागों में बांटा गया है। ये चार कर्म हैं—ज्ञान, रक्षा, व्यापार-वाणिज्य और सेवा या श्रम-कार्य। ज्ञानार्जन, विविध विषयों की योग्यता प्राप्त करना, विद्या का प्रसार करना, तपस्या करना और यज्ञ आदि कर्मों का निर्देशन करना, ये कठिन कार्य हैं और उच्च योग्यता से सम्बन्ध रखते हैं, अतः यह ज्ञान का काम ब्राह्मणों को दिया गया। समाज और देश की रक्षा

का काम क्षत्रियों को दिया गया। व्यापार और वाणिज्य वैश्यों को दिया गया है। मन्त्र में वैश्यों के लिए मरुत् का काम दिया गया है। मरुत् वायु को कहते हैं। जिस प्रकार वायु चारों ओर घूमती है, वायु शुद्ध करती है और यथास्थान रक्त आदि पहुँचाती है, उसी प्रकार वैश्य विभिन्न स्थानों पर घूमकर धन एकत्र करे और समाज में यथास्थान उसका विनियोग करे। शूद्र के लिए तपस्या बताई गई है। तप का अभिप्राय है श्रमजन्य कार्य। शारीरिक परिश्रम से होने वाले शिल्प आदि शूद्रों के लिए हैं।

टिप्पणी—(१) **ब्रह्मणे**—ज्ञान के लिए, वेदों के अध्ययन-अध्यापन के लिए, अध्यात्म-ज्ञान के लिए। ब्रह्मन् + च० १। ब्रह्मन् के अर्थ–ज्ञान, वेद, वाक्तत्त्व और ब्रह्म हैं। 'वाग् ब्रह्म' (गोपथ० पूर्व० २-१०), वाग् वै ब्रह्म (ऐत० ब्रा० ६-३), वेदो ब्रह्म (जैमि० उप० ब्रा० ४-२५-३)। (२) **क्षत्राय**—राष्ट्र-रक्षा के लिए, सुरक्षा के लिए। 'क्षत्रं राष्ट्रम्' (ऐत० ब्रा० ७-२२)। राष्ट्र को क्षत्र कहते हैं। (३) **मरुद्भ्यः**—मरुतों के लिए, मरुत् या वायुदेवों के कार्य के लिए। पृथिवी से जल को लेना और फिर वर्षा करना मरुतों का कार्य है। समाज से धन लेना और उसका यथास्थान विनियोग वैश्य-कार्य है। देवों में मरुतों को वैश्य कहा गया है। मरुतो वै देवानां विशः (ऐत० ब्रा० १-९), मारुतो हि वैश्यः (तैत्ति० ब्रा० २-७-२-२)। (४) **तपसे**—तपस्या के लिए, अर्थात् श्रम-साध्य कार्यों के लिए शूद्र को बनाया है। तपस् + च० १।

६४. समाज में सभी बराबर हैं

नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यो,
नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्यः।
यजाम देवान् यदि शक्नवाम
मा ज्यायसः शंससा वृक्षि देवाः॥

ऋग्० १-२७-१३; निरुक्त ३-२०

अन्वय—महद्भ्यः नमः, अर्भकेभ्यः नमः, युवभ्यः नमः, आशिनेभ्यः नमः। यदि शक्नवाम, देवान् यजाम। हे देवाः, ज्यायसः शंसं मा आ वृक्षि।

शब्दार्थ—(महद्भ्यः नमः) बड़ों को नमस्कार, (अर्भकेभ्यः नमः) छोटों को नमस्कारः, (युवभ्यः नमः) युवकों को नमस्कार, (आशिनेभ्यः नमः) वृद्धों को नमस्कार। (यदि शक्नवाम) यदि सामर्थ्य होगी तो, (देवान् यजाम) देवों के लिए यज्ञ करेंगे। (हे देवाः) हे देवो, (ज्यायसः) बड़ों की, श्रेष्ठ की, (शंसम्) प्रशंसा को, स्तुति को, (मा) मत, (आवृक्षि) नष्ट करूं, तोड़ूं, विछिन्न करूं।

हिन्दी अर्थ—बड़ों को नमस्कार, छोटों को नमस्कार, युवकों को नमस्कार और वृद्धों को नमस्कार। अपने सामर्थ्य भर देवों के लिए यज्ञ करेंगे। हे देवो ! हम बड़ों की स्तुति के क्रम को न तोड़ें।

Eng. Tr.—My obeisance to the elders, to youngsters, to the youth and to the aged ones. We shall perform sacrifices for the gods as we can. O Gods ! may we not break the traditions of worshipping the elders.

अनुशीलन—समाज की व्यवस्था को सुन्दर और सुपुष्ट बनाने के लिए इस मंत्र में अत्यन्त उपयोगी निर्देश दिया गया है कि समाज में सभी व्यक्ति और सभी वर्ग अत्यन्त उपयोगी हैं। उनमें भेद-भाव और ऊंच-नीच का अन्तर नहीं होना चाहिए। अतएव मंत्र में छोटे-बड़े, बालक, युवा और वृद्ध सभी को नमस्कार किया गया है। आदर पाना या संमानित होना, किसी वर्ग-विशेष का ही अधिकार नहीं है। अपने कर्मों के अनुसार सभी संमानित हो सकते हैं, चाहे वे बालक, युवा या वृद्ध कोई भी हों। बालक या युवक भी कोई अच्छा काम करते हैं तो समाज में उनका संमान होना चाहिए। उन्हें आवश्यकतानुसार नमस्कार भी किया जाए।

सबको समान अधिकार देते हुए मंत्र में अन्त में यह भी आदेश दिया गया है कि श्रेष्ठता और ज्येष्ठता की सीमा का उल्लंघन न करें। समाज में जो अपनी योग्यता, गुण-कर्म और चरित्र के आधार पर उच्च हैं, उनका सर्वत्र संमान होना चाहिए। ऐसे व्यक्तियों को सर्वत्र वरीयता प्रदान की जाए। वरीयता केवल आयु के आधार पर नहीं होती, अपितु विद्या, शिक्षा, चरित्र आदि के आधार पर होती है। आचार्य, गुरु, माता, पिता आदि जो मान्य हैं, वे सभी दृष्टि से आदरणीय और पूज्य हैं। उनके आदेशों का उल्लंघन न किया जाए।

टिप्पणी—(१) **महद्भ्यः**—बड़ो को, गुणों में उत्कृष्टों को। (२) **अर्भकेभ्यः**—छोटों को, गुणों में न्यूनों को। (३) **युवभ्यः**—युवकों को। युवन् (युवक) + च० ३। (४) **आशिनेभ्यः**—वृद्धों को। अश् (पाना) से बना है। जिन्होंने दीर्घ आयु प्राप्त कर ली है। आशिन + च० ३। (५) **यजाम**—यज्ञ करेंगे। यज् (यज्ञ करना, भ्वादि, पर०) + लोट् उ० ३। (६) **शक्नवाम**—सकेंगे तो। शक् (सकना, स्वादि, पर०) + लोट् उ० ३। (७) **ज्यायसः**—बड़ों की, श्रेष्ठ की। प्रशस्य + ईयस् = ज्यायस् + ष० १। प्रशस्य को ज्य। (८) **शंसम्**—प्रशंसा को, स्तुति को। (९) **मा आवृक्षि**—न तोड़ें, न कष्ट करें। आ + वृज् (छोड़ना, रुधादि, आ०) + लुङ् उ० १। अडागम नहीं, Inj. है।

६५. सभी वर्गों के लोग यज्ञ करें

विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भ,
आ रोदसी अपृणाज्जायमानः।
वीडुं चिदद्रियभिनत् परायन्,
जना यदग्निमयजन्त पञ्च॥

ऋग्० १०-४५-६; यजु० १२-२३;
तैत्ति० सं० ४-२-२-२

अन्वय—यत् पञ्च जनाः अग्निम् अयजन्त, विश्वस्य केतुः, भुवनस्य गर्भः, जायमानः रोदसी आ अपृणात्। परायन् वीडुं चिद् अद्रिम् अभिनत्।

शब्दार्थ—(यत्) जब, (पञ्च जनाः) पांचों प्रकार के मनुष्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अतिशूद्र या निषाद, (अग्निम्) अग्नि में, (अयजन्त) यज्ञ करते हैं, (विश्वस्य) संसार का, (केतुः) प्रकाशक, ध्वजरूप अग्नि, (भुवनस्य गर्भः) संसार का गर्भरूप, अग्नि वायुरूप में संसार के अन्दर विचरण करता है। (जायमानः) उत्पन्न होता हुआ, अग्नि सूर्यरूप में उदय होता हुआ, (रोदसी) द्युलोक और पृथिवी को, (आ अपृणात्) तेज से पूरा भर देता है। (परायन्) दूर जाता हुआ वह अग्नि, दूर से ही, (वीडुं चित्) दृढ़, कठोर से कठोर, (अद्रिम्) पर्वत को या मेघ को, (अभिनत्) तोड़ देता है।

हिन्दी अर्थ—जब पाँचों प्रकार के व्यक्ति अग्निहोत्र करते हैं, तब संसार का प्रकाशक अग्नि, सभी लोकों का प्राणरूप वायु और उदय होता हुआ सूर्य (अपने प्रकाश से) द्युलोक और पृथिवी को पूरा भर देता है। (वह अग्नि इन्द्र या वज्र के रूप में) दूर से ही कठोर से कठोर पर्वतों को भी तोड़ देता है।

Eng. Tr.—When all the five classes of the mankind perform sacrifices, the world-illuminating Fire-God, the world-protector Wind and the rising sun fill the heaven and earth with light. Then the Fire-God breaks even the hardest mountains.

अनुशीलन—इस मंत्र में यज्ञ का महत्त्व बताया गया है। मंत्र का कथन है कि जिस समाज में सभी लोग यज्ञ करते हैं, वहाँ का वातावरण शुद्ध रहता है। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक तीनों सुव्यवस्थित रहते हैं।

इस मंत्र में निर्देश है कि समाज के चारों वर्ण और अतिशूद्र भी यज्ञ करें। चारों वर्ण और अतिशूद्र को मिलाकर पंचजन होते हैं। पंच जनों को यज्ञ करने का अधिकार दिया गया है। जिस समाज में ये सभी यज्ञ करते हैं, वहाँ अग्नि, वायु और आदित्य ये संसार को सभी प्रकार से पूर्ण करते हैं। अग्नि के तीन रूप माने गए हैं। वह पृथ्वी पर अग्निरूप में है, अन्तरिक्ष में वायु और विद्युत् के रूप में है और द्युलोक में सूर्य के रूप में है। इस प्रकार यज्ञ के द्वारा ये तीन प्रकार की अग्नि पुष्ट होती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि यज्ञ से पृथिवी की जल-वायु शुद्ध होती है। जल-वायु की शुद्धि से अन्तरिक्ष शुद्ध होता है और वायु के कारण वर्षा ठीक समय पर होती है। सूर्य पृथ्वी से रसों को लेता है और वृक्ष-वनस्पतियों को पुष्ट करता है। सूर्य पृथ्वी के हित के लिए सौर ऊर्जा देता है।

टिप्पणी—(१) **विश्वस्य केतुः**—संसार का प्रकाशक या ध्वजारूप। अग्नि संसार की ध्वजा है। (२) **भुवनस्य गर्भः**—अग्नि वायु या प्राणरूप में सारे प्राणियों के शरीर के अन्दर व्याप्त है। (३) **रोदसी**—द्युलोक और पृथिवी। रोदसी द्विवचन है। (४) **आ अपृणात्**—भर देता है, तेज से भर देता है।

पृ (भरना, क्र्यादि, पर०) + लङ् प्र० १ । (५) **जायमानः**—उत्पन्न होता हुआ, उदय होता हुआ । यह अग्नि के सूर्य रूप का वर्णन है । (६) **वीडुं चित्**—वीडु–कठोर, दृढ, चित्–भी । कठोर से कठोर भी । (७) **अद्रिम्**—पर्वत को । अद्रि का अर्थ मेघ भी है । कठोर मेघों को भी तोड़ देता है । बिजली चट्टानों को तोड़ देती है । (८) **अभिनत्**—तोड़ देती है । भिद् (तोड़ना, रुधादि, पर०) + लङ् प्र० १ । (९) **परायन्**—परा–दूर से, यन्–जाती हुई । दूर से आती हुई बिजली । बिजली अग्नि का रूप है । (१०) **पंच जनाः**—पांचों प्रकार के व्यक्ति । पंच जन में चारों वर्ण और अतिशूद्र या निषाद हैं । (११) **अयजन्त**—यज्ञ किया, यज्ञ करते हैं । यज् (यज्ञ करना, भ्वादि, आ०) + लङ् प्र० ३ ।

६६. ऊँच-नीच का भेदभाव न हो

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते,
सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय ।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां
सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः ॥

ऋग्० ५-६०-५

अन्वय—अज्येष्ठासः अकनिष्ठासः एते भ्रातरः सौभगाय सं वावृधुः । युवा स्वपाः रुद्रः एषां पिता । सुदुघा पृश्निः मरुद्भ्यः सुदिना (करोतु) ।

शब्दार्थ—(अज्येष्ठासः अकनिष्ठासः) ज्येष्ठ और कनिष्ठ, अर्थात् ऊँच-नीच के भेद-भाव से रहित, (एते) ये, (भ्रातरः) भाई के तुल्य रहने वाले, (सौभगाय) सौभाग्य के लिए, (सं वावृधुः) बढ़े हैं । (युवा) सदा युवक, (स्वपाः) सुन्दर कर्म करने वाला, (रुद्रः) रुद्र, जीवात्मा, (एषाम्) इनका, (पिता) पिता है । (सुदुघा) सुन्दर दूध देने वाली, सुन्दर फल देने वाली, (पृश्निः) पृथिवी, (मरुद्भ्यः) मरुतों के लिए, प्राणों के लिए, (सुदिना) सुन्दर दिन करे ।

हिन्दी अर्थ—ज्येष्ठ और कनिष्ठ (ऊँच-नीच, बड़ा-छोटा) के भाव से रहित, ये मरुत् (प्राणवायु) भाई के तुल्य रहते हुए सौभाग्य के लिए बढ़े हैं । सदा युवा और सुन्दर कर्म करने वाला रुद्र (जीवात्मा) इनका पिता

है। सुन्दर अन्नादि-समृद्धि देने वाली पृथिवी मरुतों के लिए शुभ दिन करे।

Eng. Tr.—The Marut-Gods, behaving like brothers and abhoring the distinction of high or low, progressed to prosperity. The Lord Rudra, ever-young and virtuous, is their father. May the earth be auspicious to the Maruts.

अनुशीलन—इस मंत्र में तीन बातों पर ध्यान आकृष्ट किया गया है। वे हैं—१. बड़े-छोटे का भेदभाव छोड़कर सौभाग्य के लिए आगे बढ़ो। २. सबका पिता परमात्मा है। ३. पुरुषार्थी के लिए पृथ्वी सभी सुखों को देने वाली है।

परिवार की श्रीवृद्धि के लिए आवश्यक है कि पूरे परिवार में भ्रातृत्व (भाई-चारा) हो। बड़े-छोटे का भाव न हो। जहाँ सम्मिलित या सामूहिक प्रयत्नशीलता है, वहाँ श्री और सौभाग्य स्वयं उपस्थित रहते हैं। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि कोई भी बड़ा काम प्रारम्भ करेंगे तो उसमें कुछ घनिष्ठ सहयोगी चाहिएं। भाइयों से बढ़कर घनिष्ठता मानने वाला कोई व्यक्ति नहीं होगा। अतः अपने परिवार के सभी व्यक्तियों का पूर्ण सहयोग प्राप्त किया जाए।

दूसरी शिक्षा यह है कि परमात्मा सबका पिता है। वह सदा युवा है, सत्कर्म करने वाला है और साथ ही पापी का रोदक होने से रुद्र भी है। जो भ्रातृत्व-भावना से, मिलकर, सद्भावना-पूर्वक काम करेंगे, परमात्मा उनकी श्रीवृद्धि करेगा, अन्यथा नाश करेगा।

तीसरी शिक्षा है कि मरुतों को पृथ्वी सभी सुख देती है। उनके लिए सदा शुभ दिन हैं। मरुत् वायुदेव हैं। वे सदा गतिशील हैं। वे कभी विश्राम नहीं करते हैं। इसी प्रकार जो जीवन में सदा गतिशील हैं, कर्मठ हैं, अध्यवसायी हैं, उनके लिए सारी पृथ्वी धन-धान्य से पूर्ण है। उनके लिए सर्वत्र श्री और विजय है। उनके लिए सारे दिन शुभ दिन हैं।

टिप्पणी—(१) **अज्येष्ठासः**—अ–नहीं, ज्येष्ठ–बड़ा भाई। प्र० ३। (२) **अकनिष्ठासः**— अ–नहीं, कनिष्ठ–छोटा भाई। प्र० ३। आपस में बड़े-छोटे के भाव

से रहित। (३) **भ्रातरः**—भ्रातृभाव से रहने वाले। भ्रातृ + प्र० ३। (४) **वावृधुः**—बढ़े। वृध् (बढ़ना, भ्वादि, पर०) + लिट् प्र० ३। (५) **युवा—सदा** युवक अर्थात् अजर अमर। (६) **स्वपाः**—सुन्दर कर्म करने वाला। सु + अपस् (कर्म) + प्र० १। (७) **रुद्रः**—रुद्र मरुतों का पिता है। जीवात्मा को रुद्र कहते हैं, 'वास्तव्यो वा एष देवः रुद्रः' शत० ब्रा० ५-२-४-१३। 'आत्मा एकादशः रुद्रः' (शत० ११-६-३-७)। शरीर में रहने वाला जीवात्मा रुद्र है। मरुत् अर्थात् प्राण इसके पुत्र हैं। 'प्राणा वै मारुताः' शत० ९-३-१-७। (८) **सुदुघा**—सुन्दर दूध या अन्नादि समृद्धि देने वाली। (९) **पृश्निः**—पृथिवी। 'इयं पृथिवी वै पृश्निः' तैत्ति० ब्रा० १-४-१-५। पृथिवी मरुतों की माता के तुल्य है। (१०) **सुदिना**—सुदिनानि, सुन्दर दिन करे।

६७. भाषा और धर्म-भेद से भेद नहीं

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां
ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥

अथर्व० १२-१-४५

अन्वय—बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं जनं यथा ओकसं बिभ्रती पृथिवी, ध्रुवा अनपस्फुरन्ती धेनुः इव, मे द्रविणस्य सहस्रं धाराः दुहाम्।

शब्दार्थ—(बहुधा) अनेक प्रकार से, (विवाचसम्) विभिन्न भाषा बोलने वाले, (नानाधर्माणम्) विभिन्न धर्मों के मानने वाले, (जनम्) लोगों को, (यथा ओकसम्) एक घर में रहने वाले व्यक्तियों के तुल्य, (बिभ्रती) धारण करती हुई, (पृथिवी) भूमि, (ध्रुवा) स्थिर, निश्चल, (अनपस्फुरन्ती) न बिकदने वाली, (धेनुः इव) गाय के तुल्य, (मे) मुझे, (द्रविणस्य) धन की, ऐश्वर्य की, (सहस्रं धाराः) सहस्रों धाराएं, (दुहाम्) दे, दूध दे।

हिन्दी अर्थ—अनेक प्रकार से विभिन्न भाषा बोलने वाले और विविध

धर्मों को मानने वाले लोगों को एक परिवार के तुल्य धारण करने वाली पृथिवी, निश्चल एवं न बिदकने वाली गाय की तरह, मुझे ऐश्वर्य की सहस्रों धाराएं प्रदान करे।

Eng. Tr.—The Earth, bearing, like a family, all the people speaking different languages and adopting different sects, may bestow, like a stable cow, all sorts of wealth on me.

अनुशीलन—अथर्ववेद के पृथिवी-सूक्त के इस मंत्र में अत्युत्तम राष्ट्रीय शिक्षा दी गई है। मंत्र का कथन है कि इस पृथिवी पर नाना भाषाएं बोलने वाले लोग रहते हैं। इसी प्रकार विभिन्न धर्मों वाले लोग भी रहते हैं। ये सभी पृथिवी के लिए एक परिवार के व्यक्ति हैं। पृथिवी भाषा-भेद और धर्म-भेद से किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं करती है, उसी प्रकार पृथिवी पर रहने वाले सभी नागरिकों का कर्तव्य है कि वे भाषा-भेद और धर्म-भेद के आधार पर कोई भेद-भाव न करें। इस दोष को दूर करने का उपाय बताया गया है कि विभिन्न भाषा और धर्म के लोगों को परिवार का एक अंग समझें। सबमें पारिवारिक सद्भावना उत्पन्न होने पर किसी प्रकार का कोई वैमनस्य नहीं हो सकेगा।

मंत्र में दूसरी बात कही गई है कि यह पृथ्वी शान्त गाय की तरह हमें ऐश्वर्य दे। शान्त गाय जिस प्रकार अधिक से अधिक दूध देती है, उसी प्रकार यह पृथ्वी भी प्रसन्न होकर हमें सभी प्रकार का ऐश्वर्य दे। उचित समय पर वर्षा हो। सिंचाई की ठीक व्यवस्था हो तो पृथ्वी सुवर्ण उगल सकती है। धन-धान्य आदि के लिए सामूहिक परिश्रम की आवश्यकता है। सामूहिक परिश्रम और सिंचाई आदि की समुचित व्यवस्था होने पर पृथिवी हमारे लिए कामधेनु हो सकती है।

टिप्पणी—(१) **बिभ्रती**—धारण करती हुई। भृ (धारण करना, जुहो०, पर०) + शतृ (अत्) + ङीप् (ई) + प्र० १। बिभ्रत् + ई। (२) **विवाचसम्**—वि–विविध, वाचसम्–वाणी या भाषा बोलने वाले। विवाचस् + द्वि० १। (३) **नानाधर्माणम्**—अनेक धर्मों को मानने वाले। नानाधर्मन् + द्वि० १। (४) **यथा ओकसम्**—एक घर या परिवार के तुल्य। ओकस् (घर) + द्वि० १।

(५) **द्रविणस्य**—धन की, ऐश्वर्य की। (६) **दुहाम्**—दे, दूध दे। गाय के दूध के तुल्य सहस्र धाराओं में धन दे। दुह् (दुहना, दूध देना, अदादि, आ०) + लोट् प्र० १। दुग्धाम् के स्थान पर दुहाम् है। (७) **ध्रुवा**—निश्चल, स्थिर। पृथिवी भी निश्चल भाव से धन दे। (८) **अनपस्फुरन्ती**—अन्-नहीं, अपस्फुरन्ती—बिदकने वाली। जो बिदकती न हो। अप + स्फुर् (बिदकना, हिलना, तुदादि, पर०) + शतृ + ङीप् (ई) + प्र० १।

६८. समाज का नेता एक हो

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि,
मम चित्तमनु चित्तेभिरेत।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि,
मम यातमनुवर्त्मान एत ॥

अथर्व० ३-८-६; ६-९४-२

अन्वय—अहं मनसा मनांसि गृभ्णामि। मम चित्तं चित्तेभिः अनु आ इत। वः हृदयानि मम वशेषु कृणोमि। मम यातम् अनुवर्त्मानः आ इत।

शब्दार्थ—(अहम्) मैं, (मनसा) अपने मन से, (मनांसि) तुम्हारे मन को, (गृभ्णामि) ग्रहण करता हूँ, अपने अनुकूल बनाता हूँ। (मम) मेरे, (चित्तम्) चित्त को, हृदय को, (चित्तेभिः) अपने चित्तों से, (अनु आ इत) अनुगमन करो, अनुकूल बनाओ। (वः) तुम्हारे, (हृदयानि) हृदयों को, (मम वशेषु) अपने वश में, (कृणोमि) करता हूँ, (मम) मेरे, (यातम्) गमन या व्यवहार को, (अनुवर्त्मानः) अनुसरण करने वाले, (आ इत) आवो।

हिन्दी अर्थ—मैं अपने मन से तुम्हारे मन को ग्रहण करता हूँ। अनुकूल बनाता हूँ। मेरे चित्त के अनुकूल अपने चित्त बनाकर मेरा अनुसरण करो। मैं तुम्हारे हृदयों को अपने वश में करता हूँ। मेरे व्यवहार का अनुसरण करते हुए तुम मेरे साथ आवो।

Eng. Tr.—I hold your mind by my thought. May you follow me adjusting your mind with that of mine. I capture your hearts. Accompany me by following my path.

अनुशीलन—इस मंत्र में सुखी समाज के लिए शिक्षा दी गई है कि समाज का एक नेता होना चाहिए। उसके नियन्त्रण में समाज के अन्य व्यक्ति रहें। समाज के नेता का उत्तरदायित्व है कि वह समाज की समस्याओं को हल करे और समाज का ठीक मार्गदर्शन करे।

मंत्र का यह भी निर्देश है कि नेता ऐसा होना चाहिए जो जनता को अपने गुणों से आकृष्ट कर सके। जनता के हृदय और मन पर उसका अधिकार हो। वह जो निर्णय ले, उसका सब पालन करें। वह जो आदर्श स्थापित करे, तदनुसार सभी लोग चलें। अनायक राष्ट्र या समाज का नाश हो जाता है। अतएव कहा है कि—

अनायका विनश्यन्ति, नश्यन्ति बहुनायकाः।

जिनका कोई नेता नहीं होता, वे नष्ट हो जाते हैं। जिनके अनेक नेता होते हैं, वे भी मतभेद के कारण नष्ट हो जाते हैं।

महाभारत शान्तिपर्व में अराजकता के दोषों का वर्णन करते हुए राजा की आवश्यकता इसलिए बताई गई है कि वह प्रजा का ठीक नियन्त्रण और संचालन करेगा। वह अराजकता, उत्पीडन, शोषण आदि से प्रजा की रक्षा करेगा।

राजमूलो महाप्राज्ञ, धर्मो लोकस्य लक्ष्यते।
प्रजा राजभयादेव, न खादन्ति परस्परम्॥ महा० शान्ति० ६८-८

श्रेष्ठ राजा वही हो सकता है, जो प्रजा को अपने गुणों से जीत सके। अतएव राजा के गुणों में यज्ञ, दान, तप, सुशीलता और विद्वत्ता आदि का होना अनिवार्य बताया है।

वेदवेदाङ्गवित् प्राज्ञः, सुतपस्वी नृपो भवेत्।
दानशीलश्च सततं, यज्ञशीलश्च भारत॥ महा० शान्ति० ६९-३१

टिप्पणी—(१) **गृभ्णामि**—ग्रहण करता हूँ, अपने वश में करता हूँ। ग्रह् (पकड़ना, क्र्यादि, पर०) + लट् उ० १। ह् को भ् आदेश। (२) **एत**—आवो, अनुसरण करो। आ + इत, आ + इ (आना, अदादि, पर०) + लोट् म० ३। (३) **कृणोमि**—करता हूँ। कृ (करना, स्वादि, पर०) + लट् उ० १। (४) **यातम्**—गति, गमन, व्यवहार। (५) **अनुवर्त्मानः**—अनुसरण करने वाले। अनु—पीछे, वर्त्मानः—चलने वाले। अनु + वर्त्मन् (मार्ग) + प्र० ३।

६९. समाजसेवियों को स्थायी यश

इन्द्रो मा मरुत्वान् प्राच्या दिशः पातु
बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे,
ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥

अथर्व० १८-३-२५

अन्वय—मरुत्वान् इन्द्रः मा प्राच्याः दिशः पातु । बाहुच्युता पृथिवी उपरि द्याम् इव । लोककृतः पथिकृतः यजामहे, ये इह देवानां हुतभागाः स्थ ।

शब्दार्थ—(मरुत्वान्) मरुत् देवों से युक्त, (इन्द्रः) इन्द्र, (मा) मुझको, (प्राच्याः दिशः) पूर्व दिशा से, पूर्व दिशा से होने वाले संकटों से, (पातु) रक्षा करे । (वाहुच्युता) हाथ से गिरी हुई, सूर्य से निकली हुई, (पृथिवी) पृथिवी, (उपरि) ऊपर विद्यमान, (द्याम् इव) द्युलोक की जैसे रक्षा करती है । (लोककृतः) लोकों को करने वाले, जनहित का कार्य करने वाले, समाज को बनाने वाले, (पथिकृतः) मार्ग बनाने वाले, मार्ग-दर्शकों की, (यजामहे) हम पूजा करते हैं । (ये) जो मार्गदर्शक, (इह) यहां, इस संसार में, (देवानाम्) देवों के, (हुतभागाः स्थ) हव्य अंश को लेने के अधिकारी है ।

हिन्दी अर्थ—मरुत् देवों से युक्त इन्द्र पूर्व दिशा से होने वाले संकटों से हमारी रक्षा करे, जैसे सूर्य से निकली हुई पृथिवी ऊपर विद्यमान द्युलोक की रक्षा करती है । समाज को बनाने वाले एवं मार्ग-प्रवर्तकों की हम पूजा करते हैं, जो इस संसार में देवों के हव्य-अंश के अधिकारी हैं, अर्थात् जो देवों के तुल्य पूज्य हैं ।

Eng. Tr.—May Lord Indra, along with the Maruts, protect us from all sorts of dangers coming from the east, as the earth arising from the sun, protects the upward heaven. We worship those, who are the elevators of the people and the path-makers. They deserve honour like gods.

अनुशीलन—इस मंत्र में आदेश दिया गया है कि समाजसेवियों का सदा सत्कार करें। वे देवता के तुल्य पूज्य हैं। वे समाज का पथ-प्रदर्शन करते हैं और लोक-कल्याण के कार्य करते हैं। मंत्र में उनको 'लोककृतः' और 'पथिकृतः' कहा गया है। देवता जिस प्रकार मनुष्य को संकटों से बचाते हैं और पृथिवी आदि जिस प्रकार जीवों की रक्षा करती हैं, उसी प्रकार समाजसेवी भी समाज की रक्षा करते हैं और समाज के लिए अपना जीवन अर्पित करते हैं। जिसमें समाज के लिए त्याग की भावना है, वही समाज का पूज्य है।

महाभारत शान्तिपर्व में कहा गया है कि जो राजा आदि प्रजा का हित करते हैं, प्रजा को पुष्ट करते हैं, वे ही संसार में जीवित रहने के अधिकारी हैं।

ये भूतान्यनुगृह्णन्ति, वर्धयन्ति च ये प्रजाः।
ते ते राष्ट्रेषु वर्तन्तां, मा भूतानामभावकाः॥ महा. शान्ति. ८८-२५

इसी प्रकार राजा के कर्तव्यों में बताया गया है कि वह दयालु हो, धन दान देता हो, जनहित करता हो, यथायोग्य धन का विभाजन करता हो। ऐसा राजा ही जनप्रिय होता है।

दातारं संविभक्तारं, मार्दवोपगतं शुचिम्।
असंत्यक्तमनुष्यं च, तं जनाः कुर्वते नृपम्॥ महा. शान्ति. ९३-२७

इससे ज्ञात होता है कि जनहित उत्कृष्ट कर्म है। अतएव समाजसेवियों का देवों के तुल्य संमान होना चाहिए।

टिप्पणी—(१) **मा**—मुझको। माम् के स्थान पर मा है। (२) **मरुत्वान्**—मरुतों वाला, मरुत् देवों से युक्त। मरुत् + मत् + प्र० १। म् को व्। (३) **पातु**—रक्षा करे। पा (रक्षा करना, अदादि, पर०) + लोट् प्र० १। (४) **बाहुच्युता**—हाथ से गिरी हुई। पृथिवी सूर्य का अंश है, अतः वह सूर्य के हाथों से गिरी हुई वस्तु है। (५) **द्याम् इव**—पृथिवी यज्ञ द्वारा द्युलोक की रक्षा और पुष्टि करती है। पृथिवी और द्युलोक का जन्य-जनक संबन्ध है। पृथिवी अपने जनक द्युलोक की यज्ञ द्वारा रक्षा करती है। (६) **लोककृतः**—लोकहित करने वाले, समाजसेवी। लोककृत् + द्वि० ३। (७) **पथिकृतः**—मार्ग बनाने वाले,

मार्ग-प्रवर्तक। पथिकृत् + द्वि० ३। (८) **यजामहे**—पूजा करते हैं, तदर्थ यज्ञ करते हैं। यज् (यज्ञ करना, भ्वादि, आ०) + लट् उ० ३। (९) **हुतभागाः**—हव्य के भागी, देवों के अंश के अधिकारी, देवों के तुल्य पूज्य। (१०) **स्थ**—हो, तुम हो। अस् (होना, अदादि, पर०) + लट् म० ३।

७०. समाज का आधार, आदान-प्रदान

देहि मे ददामि ते, नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे, निहारं निहराणि ते स्वाहा॥

यजु० ३-५०

अन्वय—मे देहि, ते ददामि। मे निधेहि, ते निदधे। मे निहारं हरासि, ते निहारं निहराणि, स्वाहा।

शब्दार्थ—(मे देहि) तुम मुझे दो, (ते ददामि) मैं तुम्हें देता हूँ। (मे निधेहि) तुम मेरे लिए वस्तु रखो, (ते निदधे) मैं तुम्हारे लिए वस्तु या धन रखता हूं। (मे) मेरे लिए, मुझे, (निहारं हरासि) तुम मूल्य या वस्तु देते हो, (ते) तेरे लिए, तुझे, (निहारं निहराणि) मैं मूल्य या वस्तु देता हूँ। (स्वाहा) एतदर्थ आहुति देता हूं।

हिन्दी अर्थ—हे मनुष्यो! तुम मुझे दो। मैं तुम्हें देता हूँ। तुम मेरे लिए पदार्थ रखो। मैं तुम्हारे लिए पदार्थ रखता हूँ। तुम मुझे वस्तु देते हो। मैं तुम्हें मूल्य देता हूँ। एतदर्थ आहुति देता हूँ।

Eng. Tr.—O Persons! may you give me and I give you. You hold things for me and I hold things for you. You give things to me and I give its price to you. For this I offer the oblations.

अनुशीलन—इस मंत्र में समाज की स्थिर व्यवस्था के लिए आदान-प्रदान का महत्त्व बताया गया है। साथ ही यह भी शिक्षा दी गई है कि लेन-देन में ऋण की व्यवस्था न रखी जाए।

समाज समष्टि और व्यष्टि का संयोग है। व्यक्ति समाज का अंग है और व्यक्ति से ही समाज बनता है। दोनों अंग और अंगी हैं। अंग ठीक काम करते हैं तो अंगी भी स्वस्थ रहता है। व्यक्ति सैकड़ों कार्यों के लिए समाज की अपेक्षा करता है। प्रत्येक व्यक्ति सारे काम स्वयं नहीं कर सकता है। अतः अपने कार्यों की पूर्ति के लिए समाज का आश्रय लेता है। अर्थशास्त्र के अनुसार Demand and supply समाज की अर्थव्यवस्था का आधार है। माँग के अनुसार विभिन्न वर्ग सामान तैयार करते हैं और उन्हें उचित मूल्यों पर बेचते हैं। बेचने वाला सामान का उचित या अधिक मूल्य लेना चाहता है और ग्राहक सामान का न्यूनतम मूल्य देना चाहता है। अतः विक्रेता लागत और लाभांश जोड़कर उसका मूल्य निर्धारित करता है। क्रेता तदनुसार ही मूल्य देकर वस्तु लेता है।

यह अर्थ-व्यवस्था अन्नादि से लेकर नगद लेन-देन तक प्रचलित है। मंत्र का अभिप्राय है कि कुछ सामान समाज हमें देता है और कुछ उपयोगी सामान हम समाज को देते हैं। यह आदान-प्रदान वस्तुओं तक ही सीमित नहीं रहता है, अपितु उपयोगी कार्य भी इसके अन्तर्गत आते हैं। उपयोगी कार्यों का बौद्धिक और शारीरिक श्रम के अनुसार मूल्यांकन किया जाता है।

मंत्र की यह भी शिक्षा है कि आदान-प्रदान में नगद को ही प्रश्रय दिया जाए। ऋण लेना और देना दोनों ही समाज के लिए घातक हैं। इसलिए ऋण लेना सर्वथा अनुचित है। इसी प्रकार ऋण देना भी एक अत्यन्त घातक बुराई है।

टिप्पणी—(१) **देहि**--दो। दा (देना, जुहो०, पर०) + लोट् म० १। (२) **ददामि**--देता हूँ। दा (देना, जुहो०, पर०) + लट् उ० १। (३) **नि धेहि**–रखो। नि + धा (रखना, जुहो०, पर०) + लोट् म० १। (४) **नि दधे**--रखता हूँ। नि + धा (रखना, जुहो०, आ०) + लट् उ० १। (५) **निहारम्**—मूल्य या मूल्य के बराबर की वस्तु। (६) **हरासि**--देते हो। हृ (लाना, भ्वादि, पर०) + लेट् म० १। (७) **निहराणि**--मैं देता हूँ, पूर्णरूप में देता हूँ। नि + हृ (लाना, भ्वादि, पर०) + लोट् उ० १।

७१. प्राचीन परंपराओं को न छोड़ें

यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति,
यथ ऋतव ऋतुभिर्यन्ति साधु।
यथा न पूर्वमपरो जहाति,
एवा धातरायूंषि कल्पयैषाम् ॥

ऋग्० १०-१८-५; अथर्व० १२-२-२५;
तैत्ति० आर० ६-१०-१

अन्वय--यथा अहानि अनुपूर्वं भवन्ति । यथा ऋतवः ऋतुभिः साधु यन्ति । यथा पूर्वम् अपरः न जहाति, एव हे धातः, एषाम् आयूंषि कल्पय ।

शब्दार्थ--(यथा) जिस प्रकार, (अहानि) दिन-रात, (अनुपूर्वम्) क्रमशः, पूर्वापर क्रम से, (भवन्ति) होते हैं । (यथा) जैसे, (ऋतवः) ऋतुएं, (ऋतुभिः) ऋतुओं के साथ, (साधु) ठीक ढंग से, क्रमशः, (यन्ति) जाती हैं, होती हैं । (यथा) जैसे, (पूर्वम्) प्राचीन को, पूर्वज को, (अपरः) नवीन, पुत्रादि, (न जहाति) नहीं छोड़ता है, (एव) इसी प्रकार, (हे धातः) हे परमात्मन्, (एषाम्) इनकी, (आयूंषि) आयु को, (कल्पय) बनाओ, करो, बढ़ाओ ।

हिन्दी अर्थ—जिस प्रकार दिन-रात क्रम से होते हैं, जिस प्रकार ऋतुएं ऋतुओं के साथ क्रमशः आती हैं । जिस प्रकार प्राचीन को नवीन नहीं छोड़ता है, उसी प्रकार हे परमात्मन् ! इन मनुष्यों की आयु निरन्तर बढ़ाओ ।

Eng. Tr.—As the day and night follow each other in rotation, or as the seasons follow each other respectively, or as the new order follows the old-one, similarly O God ! may you enhance the lives of these persons continuously.

अनुशीलन—इस मंत्र में समाज के लिए एक व्यावहारिक और उपयोगी

शिक्षा दीगई है कि नवीनता को अंगीकार करते हुए प्राचीनता को भी न छोड़ा जाए। इसके लिए दिन-रात और ऋतु-परिवर्तन को उदाहरण रूप में रखा गया है। दिन-रात में रात्रि के बिना दिन नहीं रह सकता है और दिन के बिना रात्रि। इसी प्रकार एक ऋतु के बिना दूसरी ऋतु का विकास नहीं हो सकता है। यह एक श्रृंखला है, जिसमें से किसी एक को निकाल कर नहीं रखा जा सकता है।

यही बात संस्कृति और सभ्यता पर लागू होती है। इसमें प्राचीन और नवीन का संबन्ध मूल-शाखा और पत्र-पुष्प का है। मूल के बिना शाखा और पत्र-पुष्प नहीं हो सकते और पत्र-पुष्प आदि के बिना मूल व्यर्थ है। दोनों अपने स्थान पर उपयोगी हैं। प्राचीन संस्कृति से नवीन संस्कृति का विकास हुआ है। प्राचीन संस्कृति को छोड़ देने से नवीन संस्कृति निराधार हो जाएगी। समाज को पत्र-पुष्प चाहिए, अतः वह संस्कृति और सभ्यता के नवीनतम रूप को अपनाता है।

मंत्र का कथन है कि जिस प्रकार रात्रि के बिना दिन का आगमन नहीं होता और जिस प्रकार पहली ऋतु गर्मी आदि के बिना बाद की ऋतु वर्षा आदि नहीं आती है, उसी प्रकार प्राचीन संस्कृति के बिना नवीन संस्कृति का विकास नहीं होता है। प्राचीन संस्कृति, सभ्यता और परंपराएँ नवीन विकास का आधार हैं, अतः मूल का नाश नहीं होने देना चाहिए। प्राचीन संस्कृति और परंपराओं में जो भी उपादेय तत्त्व हैं, उनको ग्रहण करना चाहिए तथा उनका संवर्धन करना चाहिए।

टिप्पणी—(१) **अहानि**—दिन, दिन-रात। अहन् का अर्थ दिन है। रात्रि और दिन को मिलाकर अहन् होता है। अहन् + प्र० ३। (२) **अनुपूर्वम्**—क्रमशः, पूर्वापर के क्रम से। (३) **यथ**—यथा शब्द है। संधिनियम से ह्रस्व है। (४) **यन्ति**—जाती हैं, होती हैं। इ (जाना, अदादि, पर०) + लट् प्र० ३। (५) **पूर्वम् अपरः**—प्राचीन को नवीन, पहले को बाद वाला। (६) **जहाति**—छोड़ता है। हा (छोड़ना, जुहो०, पर०) + लट्० प्र० १। (७) **एवा**—इसी प्रकार से। एवम् का संक्षिप्त रूप एव है। छान्दस दीर्घ। (८) **कल्पय**—करो, अर्थात् क्रमशः बढ़ाओ। क्लृप् (कल्प्, समर्थ होना, भ्वादि, आ०) + णिच् + लोट् म० १।

७२. पुत्र आज्ञाकारी हो

अनुव्रतः पितुः पुत्रो, मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं, वाचं वदतु शन्तिवाम् ।।

अथर्व० ३-३०-२

अन्वय—पुत्रः पितुः अनुव्रतः, मात्रा संमनाः भवतु । जाया पत्ये मधुमतीं शन्तिवां वाचं वदतु ।

शब्दार्थ—(पुत्रः) पुत्र, (पितुः) पिता के, (अनुव्रतः) अनुकूल कर्म करने वाला हो, और (मात्रा) माता के साथ, (संमनाः) समान मन वाला हो अर्थात् माता के निर्देशानुसार काम करने वाला, (भवतु) हो । (जाया) पत्नी, (पत्ये) पति से, (मधुमतीम्) मधुर, (शन्तिवाम्) सुखकर, शान्तिप्रद, (वाचम्) वाणी, (वदतु) बोले ।

हिन्दी अर्थ—पुत्र पिता के अनुकूल कर्म करने वाला हो और माता के साथ समान मन वाला हो । पत्नी पति से मधुर और सुखद वाणी बोले ।

Eng. Tr.—Let the son be obedient to his parents and agreeable to his mother. A wife should speak sweet and beneficial tongue to her husband.

अनुशीलन—इस मन्त्र में जीवन को सुखी बनाने के लिए पिता-पुत्र, माता-पुत्र और पति-पत्नी के सम्बन्धों पर प्रकाश डाला गया है । पुत्र के लिए आदेश दिया गया है कि वह पिता का आज्ञाकारी हो । व्रत का अर्थ है—कर्म, संयम, अनुशासन । अनुव्रतः का अभिप्राय है कि पिता के जैसे कर्म हैं, उसका जैसा संयम और आचरण है, वह जिन नियमों और परम्पराओं का पालन करता है, उसी प्रकार उसका पुत्र भी सत्कर्मों में प्रवृत्त हो, संयम और नियमों का पालन करे तथा वंश-परम्परागत सद्गुणों का अपने अन्दर समावेश करे । माता के प्रति पुत्र का कर्तव्य है कि वह संमनाः हो । माता के हृदय से उसका हृदय मिला हुआ हो । माता का आज्ञाकारी हो, माता का हित-चिन्तक हो और मातृभक्त हो । माता यदि पुत्र के कर्मों से प्रसन्न है तो उसका आशीर्वाद पुत्र को सदा प्राप्त होता

रहेगा। स्त्री या पत्नी के कर्तव्यों का निर्देश है कि वह पतिव्रता हो, पति का सदैव हित सोचे, पति से मधुर वचन बोले। स्त्री का प्रत्येक वचन मधुरता से भरा हुआ हो। उसके वचन शान्तिदायक और सुखदायक हों। सुखी जीवन और सुखी परिवार के लिए इन गुणों का होना आवश्यक है।

टिप्पणी—(१) **अनुव्रतः**—अनु–अनुकूल, व्रत–कर्म करने वाला अर्थात् पिता का आज्ञापालक हो। (२) **पितुः**—पितृ + ष० १। (३) **मात्रा**—माता के साथ। मातृ + तृ० १। (४) **संमनाः**—सम्–समान, सदृश, मनस्–मन वाला। माता से पुत्र का मन मिला हुआ हो अर्थात् माता जैसा कहे वैसा करे। (५) **पत्ये**—पति के लिए। पति + च० १। (६) **वदतु**—बोले। वद् (बोलना, भ्वादि) + लोट् प्र० १। (७) **शन्तिवाम्**—सुखद, शान्तिदायक। शम् + ति + मत्वर्थक व + टाप् (आ) + द्वि० १। शम्–सुख, कल्याण, शान्ति।

७३. परिवार में प्रेमभाव हो

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षत्, मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा, वाचं वदत भद्रया॥

अथर्व० ३-३०-३

अन्वय—भ्राता भ्रातरं मा द्विक्षत्, उत स्वसा स्वसारं मा (द्विक्षत्)। सम्यञ्चः सव्रताः भूत्वा भद्रया वाचं वदत।

शब्दार्थ—(भ्राता) भाई, (भ्रातरम्) भाई से, (मा) मत, (द्विक्षत्) द्वेष करे। (उत) और, (स्वसा) बहिन, (स्वसारम्) बहिन से, (मा द्विक्षत्) मत द्वेष करे। (सम्यञ्चः) समान गति या एक विचार वाले, (सव्रताः) एक प्रकार से कर्म करने वाले, (भूत्वा) होकर, (भद्रया) उत्तम रीति से, कल्याणकारी ढंग से, (वाचं वदत) वाणी कहो, बोलो।

हिन्दी अर्थ—भाई भाई से द्वेष न करे और बहिन बहिन से द्वेष न करे। एक विचार वाले और एक प्रकार से काम करने वाले होकर शिष्टतापूर्वक वार्तालाप करो।

Eng. Tr.—Let the brother should not be jealous to his brother and similarly the sister should not be jealous to her sister. Having similar thoughts and doing similar tasks you should indulge in affectionate dialogue.

अनुशीलन—इस मन्त्र में भाई और बहिन के कर्तव्यों का निर्देश है। जहाँ भाई-भाई में कलह हो या बहिन-बहिन में कलह हो, वह परिवार कभी सुखी नहीं रह सकता है। भाई का झगड़ा चाहे भाई से हो या बहिन से, वहाँ सुख-शान्ति नहीं रह सकती है। इसी प्रकार यदि बहिन का झगड़ा बहिन से हो या भाई से, वहाँ शान्ति की आशा नहीं की जा सकती है। इसलिए वेद का आदेश है कि परिवार की सुख-समृद्धि के लिए भाइयों और बहिनों में पारस्परिक द्वेष या कलह न हो। पारिवारिक वातावरण सुखद कैसे बनाया जा सकता है, इसका उपाय बताया गया है कि सभी समान विचार और समान कर्म वाले होकर परस्पर प्रेम-पूर्ण वार्तालाप करें। परिवार में यदि सभी व्यक्ति परस्पर प्रेम से बोलते हैं तो उस परिवार में सौहार्द और सामंजस्य रहेगा। परस्पर प्रेम बढ़ेगा और परिवार की श्रीवृद्धि होगी।

टिप्पणी—(१) **मा**—मत। अव्यय है। (२) **द्विक्षत्**—द्वेष करे। द्विष् (द्वेष करना, अदादि) + लुङ् प्र० १। मा के कारण लुङ् और अडागम का अभाव। Injunctive है। (३) **उत**—और। अव्यय है। (४) **सम्यञ्चः**—सम् + अञ्च् + प्रथमा ३। सम् को समि आदेश। (५) **सव्रताः**—समान कर्म वाले। व्रत–कर्म। (६) **भूत्वा**—होकर। भू + क्त्वा (त्वा)। (७) **वदत**—बोलो। वद् (बोलना, भ्वादि) + लोट् म० ३।

७४. स्त्री परिवार की स्वामिनी

यथा सिन्धुर्नदीनां, साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि, पत्युरस्तं परेत्य॥

अथर्व० १४-१-४३

अन्वय—यथा वृषा सिन्धुः नदीनां साम्राज्यं सुषुवे। एव त्वं पत्युः अस्तं परेत्य सम्राज्ञी एधि।

शब्दार्थ—(यथा) जिस प्रकार, (वृषा) बली, बलवान् (सिन्धुः) समुद्र ने, (नदीनाम्) नदियों के, (साम्राज्यम्) साम्राज्य, आधिपत्य को, (सुषुवे) उत्पन्न किया, जन्म दिया। (एव) इसी प्रकार, (त्वम्) तू, (पत्युः) पति के, (अस्तम्) घर को, (परेत्य) प्राप्त कर, पहुँच कर, (सम्राज्ञी) स्वामिनी, (एधि) होना।

हिन्दी अर्थ—जिस प्रकार बलशाली समुद्र ने नदियों पर आधिपत्य की सृष्टि की, उसी प्रकार (हे वधू) तू भी पति के घर पहुँच गृह-स्वामिनी होना।

Eng. Tr.—O Bride ! as the mighty ocean becomes lord of the rivers, similarly on reaching the house of your husband, be the mistress of the house.

अनुशीलन—मंत्र का कथन है कि जिस प्रकार सभी नदियाँ समुद्र में आकर मिलती हैं और समुद्र नदियों का पति या स्वामी हो जाता है, उसी प्रकार पतिगृह में आकर पत्नी भी सम्राज्ञी हो जाती है। मंत्र के पूर्वार्ध से उत्तरार्ध का भाव स्पष्ट हो जाता है। नदियों का गन्तव्य स्थान समुद्र है। नदियों का समुद्र में मिलना, पत्नी का अपने पति को प्राप्त करना है। समुद्र में पहुँच कर नदियाँ अपने अस्तित्व को समाप्त कर समुद्ररूप हो जाती हैं। इसी प्रकार पत्नी का कर्तव्य है कि वह पति के परिवाररूपी समुद्र में पहुँचकर अपने पृथक् अस्तित्व को समाप्त कर दे और पति के परिवार से एकरूपता या तादात्म्य स्थापित करे। यह एकरूपता स्थापित होते ही वह गृह-स्वामिनी, सम्राज्ञी, अधिराज्ञी आदि हो जाती है।

मंत्र का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सारी नदियों का भार समुद्र पर आ जाता है, उसी प्रकार सारे परिवार का भार नव-वधू पर आ जाता

है। सारे परिवार का भार उठाना बहुत बड़ा उत्तरदायित्व का कार्य है। वधू ही परिवार के सारे कार्यों को देखती है, गृह-संचालन उनका कर्तव्य होता है, अतः वह गृह की सम्राज्ञी होती है।

टिप्पणी—(१) **साम्राज्यम्**—साम्राज्य, आधिपत्य । सम्राज् + ष्यञ् (य), भाव अर्थ में। (२) **सुषुवे**—उत्पन्न किया, जन्म दिया। सू (जन्म देना, प्रेरणा देना, तुदादि, आ०) + लिट् प्र० १। (३) **वृषा**—बलवान्, शक्तिशाली। वृषन् + प्र० १। (४) **एवा**—एवम्, इसी प्रकार। एवम् के अर्थ में एव है। छान्दस दीर्घ। (५) **एधि**—होना। अस् (होना, अदादि, पर०) + लोट् म० १। (६) **पत्युः**—पति के। पति + ष० १। (७) **अस्तम्**—घर। (८) **परेत्य**—प्राप्त होकर, पहुँच कर। परा + इ (जाना अदादि) + ल्यप् (य)। बीच में त् का आगम।

७५. शक्तिवर्धक अन्न मिले

अन्नपतेऽन्नस्य नो देहि-अनमीवस्य शुष्मिणः।
प्र प्र दातारं तारिष, ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥

यजु० ११-८३

अन्वय—हे अन्नपते, नः अनमीवस्य शुष्मिणः अन्नस्य देहि। दातारं प्र प्र तारिषः, नः द्विपदे चतुष्पदे ऊर्जं धेहि।

शब्दार्थ—(हे अन्नपते) हे अन्न के स्वामी परमात्मन्, (नः) हमें, (अनमीवस्य) रोगरहित, (शुष्मिणः) बलदायक, शक्तिप्रद, (अन्नस्य देहि) अन्न दो। (दातारम्) दाता को, यजमान को, (प्र प्र तारिषः) विशेषरूप से बढ़ाओ। (नः) हमारे, (द्विपदे) मनुष्यों, (चतुष्पदे) पशुओं के लिए, (ऊर्जम्) अन्न और शक्ति, (धेहि) दो।

हिन्दी अर्थ--हे अन्न के स्वामी परमात्मन्! हमें रोगरहित और शक्तिप्रद अन्न दीजिए। आप दाता को निरन्तर बढ़ाइए। हमारे मनुष्यों और पशुओं के लिए अन्न एवं बल दीजिए।

Eng. Tr.—O Lord of food! may you provide stimulating and non-injurious food to us. May you increase the bestower

in wealth. May you provide food and energy to our meu and the animals.

अनुशीलन—इस मंत्र में परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि वह शक्तिवर्धक और रोगनाशक अन्न दें। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की समृद्धि में अन्न का बहुत बड़ा हाथ है। यदि राष्ट्र में अन्न की समृद्धि न हो तो राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता है। अतएव उपनिषद् में अन्न को ब्रह्म कहा गया है।

अन्नं ब्रह्म। तैत्तिरीय उप० ३-२

ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा गया है कि अन्न ही सारे जीवों की आत्मा है। सारा संसार अन्न पर ही आश्रित है।

अन्नं वै सर्वेषां भूतानामात्मा। गोपथ ब्रा० उ० १-३।

अन्नजीवनं हीदं सर्वम्। शत० ब्रा० ७-५-१-२०।

अन्न के दो रूप हैं—यह खाया जाता है और यह खाने वाले को ही खा जाता है। इसलिए उपनिषद् में इसकी व्याख्या की गई है कि—

अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते। तैत्ति० उप० २-२

यदि मनुष्य अन्न का ठीक सेवन करता है, तो अन्न जीवन है। यदि आवश्यकता से अधिक खा लेता है तो अन्न ही उसका घातक और मारक हो जाता है। इसी बात को तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है कि अन्न जीवन भी है और मृत्यु भी। ठीक सेवन करने पर अन्न जीवन है, अनुचित रूप से सेवन करने पर यह मृत्यु हो जाता है।

अन्नं मृत्युं तमु जीवातुमाहुः। तैत्ति० ब्रा० २-८-८-३।

टिप्पणी—(१) **अन्नपते**—हे अन्न के स्वामी। अन्नपति + सं० १। (२) **अन्नस्य**--अन्न को। द्वितीया के अर्थ में षष्ठी है। (३) **देहि**--दो। दा (देना, जुहो०, पर) + लोट् म० १। (४) **अनमीवस्य**—रोगरहित। अमीवा–रोग, अनमीव–रोगरहित। (५) **शुष्मिणः**--बलयुक्त, शक्तिप्रद। शुष्म (बल) + मत्वर्थ में इन् + ष० १। (६) **प्र प्र तारिषः**—विशेष रूप से बढ़ाओ। प्र प्र–विशेष रूप से। विशेष अर्थ में द्विरुक्ति। तृ (पार करना, भ्वादि, पर०) + लेट् म० १। (७) **ऊर्जम्**—अन्न, बल। ऊर्ज् के दोनों अर्थ हैं—बल और अन्न। (८) **धेहि**—

रखो। धा (रखना, जुहो० पर०) + लोट् म० १। (९) **द्विपदे**—मनुष्यों के लिए द्विपाद् (मनुस्य) + च० १। पाद् को पद् आदेश। (१०) **चतुष्पदे**—पशुओं के लिए। चतुष्पाद् (पशु) + च० १। पाद् को पद् आदेश।

७६. प्राकृतिक नियमों को न तोड़ें

समान ऊर्वे अधिसंगतासः,
सं जानते न यतन्ते मिथस्ते।
ते देवानां न मिनन्ति व्रतानि-
अमर्धन्तो वसुभिर्यादमानाः॥

ऋग्० ७-७६-५

अन्वय—समाने ऊर्वे अधिसंगतासः ते सं जानते, मिथः न यतन्ते। ते अमर्धन्तः, वसुभिः यादमानाः, देवानां व्रतानि न मिनन्ति।

शब्दार्थ—(समाने ऊर्वे) समान भूमिपर, एक स्थान पर, (अधि संगतासः) एकत्र हुए, (ते) वे, (संजानते) एक प्रकार का विचार करते हैं, एक निर्णय लेते हैं। (मिथः) एक दूसरे के विरुद्ध, (न) नहीं, (यतन्ते) प्रयत्न करते हैं, कार्य करते हैं। (ते) वे, (अमर्धन्तः) अपने कर्तव्यों की उपेक्षा न करते हुए, असावधानी न करते हुए, (वसुभिः यादमाना) ऐश्वर्य के साथ रहते हुए, (देवानाम्) देवों के, (व्रतानि) नियमों को, प्राकृतिक नियमों, (न) नहीं, (मिनन्ति) तोड़ते हैं।

हिन्दी अर्थ– एक स्थान पर एकत्र होकर वे एक ही निर्णय लेते हैं। वे एक-दूसरे के विरुद्ध प्रयत्न नहीं करते हैं। वे अपने कर्तव्यों की उपेक्षा न करते हुए, ऐश्वर्य के साथ रहते हुए, देवों के नियमों को (प्राकृतिक नियमों को) नहीं तोड़ते हैं।

Eng. Tr.—They assemble at a common place and take decisions unanimously. They do not instigate against each other. These, dutiful and prospering, do not break the natural laws.

अनुशीलन—इस मंत्र में समाज की श्रीवृद्धि के लिए दो कर्तव्यों का निर्देश है। ये हैं—१. एक स्थान पर एकत्र होकर सामूहिक निर्णय लेना, २. प्राकृतिक नियमों को न तोड़ना।

मंत्र में स्पष्ट संकेत किया गया है कि समाज की उन्नति के लिए समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति एक स्थान पर एकत्र हों और समाज की समस्याओं पर विचार करके सामूहिक निर्णय लें। 'सं जानते' के द्वारा निर्देश है कि उनमें संज्ञान हो, अर्थात् सद्भावना से एक निर्णय करें। यह सामूहिक निर्णय सबके लिए मान्य है। मंत्र में यह भी संकेत है कि सामूहिक निर्णय के विरुद्ध कोई किसी प्रकार का कार्य न करे। यदि समाज के सामूहिक निर्णयों का कठोरता से पालन किया जाता है तो समाज अवश्यमेव प्रगतिशील और समृद्ध होगा।

इस मंत्र की दूसरी शिक्षा है कि प्राकृतिक नियमों को न तोड़ें। समाज की अव्यवस्था और अवनति का कारण प्राकृतिक नियमों को तोड़ना है। मनुष्य यदि प्राकृतिक नियमों का पालन करता है तो वह उन्नत होगा, अन्यथा पतित। इसी की ओर संकेत किया गया है कि यदि समृद्धि और आनन्द चाहिए तो प्राकृतिक नियमों के अनुसार चलें।

टिप्पणी—(१) **समाने ऊर्वे**—एक स्थान पर, समान भूमि पर। ऊर्व का अर्थ स्थान, भूमि, क्षेत्र है। समान–एक, साधारण। (२) **अधि संगतासः**—एकत्र हुए, इकट्ठे। संगत (एकत्र) + प्र० ३। (३) **सं जानते**—संज्ञान या एक विचार करते हैं, एक निर्णय लेते हैं। संज्ञान–एक विचार, एक निश्चय। सम् + ज्ञा (जानना, क्र्यादि, आ०) + लट् प्र० ३। (४) **यतन्ते**—प्रयत्न करते हैं, कार्य करते हैं। यत् (यत्न करना, भ्वादि, आ०) + लट् प्र० ३। (५) **मिथः**—एक दूसरे के विरुद्ध, विपरीत भाव से। अव्यय है। (६) **मिनन्ति**—तोड़ते हैं, नष्ट करते हैं। मी (तोड़ना, नष्ट करना, क्र्यादि, पर०) + लट् प्र० ३। (७) **व्रतानि**—नियमों को। (८) **अमर्धन्तः**—लापरवाही न करते हुए। मृध् (लापरवाही करना, भ्वादि, पर०) + शतृ + प्र० ३। (९) **वसुभिः**—धन के साथ, ऐश्वर्ययुक्त। (१०) **यादमानाः**—चलते हुए, रहते हुए। याद् (जाना) + शानच् (आन) + प्र० ३। याद् धातु का अर्थ है—मिलकर चलना, साथ जाना।

७७. सभी प्राणी सुरक्षित रहें

प्राणं मे पाहि, अपानं मे पाहि, व्यानं मे पाहि,
चक्षुर्म उर्व्या विभाहि, श्रोत्रं मे श्लोकय ।
अपः पिन्व, ओषधीर्जिन्व, द्विपादव,
चतुष्पात् पाहि, दिवो वृष्टिमेरय ॥

यजु० १४-८

अन्वय—मे प्राणं पाहि, मे अपानं पाहि, मे व्यानं पाहि, मे चक्षुः उर्व्या विभाहि, मे श्रोत्रं श्लोकय । अपः पिन्व, ओषधीः जिन्व, द्विपाद् अव, चतुष्पात् पाहि, दिवः वृष्टिम् एरय ।

शब्दार्थ—(मे) मेरे, (प्राणम्) प्राण या प्राण वायु की, (पाहि) रक्षा करो । (मे अपानं पाहि) मेरी अपान वायु की रक्षा करो । (मे व्यानं पाहि) मेरी व्यान वायु की रक्षा करो । (मे) मेरी, (चक्षुः) आँख को, (उर्व्या) विस्तृत रूप से, (विभाहि) प्रकाशित करो । (मे श्रोत्रम्) मेरे कान को, (श्लोकय) श्रवण शक्ति से युक्त करो । (अपः जिन्व) जल बरसाओ, जल से सींचो, (ओषधीः जिन्व) ओषधियों में शक्ति दो, (द्विपाद् अव) मनुष्यों की रक्षा करो, (चतुष्पात् पाहि) पशुओं की रक्षा करो । (दिवः) आकाश से, (वृष्टिम्) वृष्टि को, (आ ईरय) सर्वथा प्रेरित करो ।

हिन्दी अर्थ—हे परमात्मन् ! मेरे प्राण अपान और व्यान वायुओं की रक्षा करो । मेरी दृष्टि को विस्तृत रूप से तेज दो । मेरे कानों को सुनने की शक्ति दो । (पृथिवी को) जल से सींचो, ओषधियों में शक्ति दो । मनुष्यों और पशुओं की रक्षा करो । आकाश से वृष्टि को प्रेरित करो ।

Eng. Tr.—O God ! may you protect my vital airs, viz. Prana, Apana and Vyana. May you provide glory to my eyes and power of hearing to the ears. May you fatten the earth with the water and strengthen the herbs. May you protect the men and the animals. May you send the rains from the sky.

अनुशीलन— इस मंत्र में दो प्रार्थनाएं मुख्य रूप से की गई हैं। ये हैं—१. मनुष्य का सर्वतोमुखी विकास, २. सभी जीवों की सुरक्षा।

मनुष्य के सर्वतोमुखी विकास के लिए आवश्यक है कि उसकी सभी इन्द्रियां नीरोग हों तथा हृष्ट-पुष्ट हों। आँख, कान आदि इन्द्रियों की शक्ति की वृद्धि के लिए आवश्यक है कि प्राण-शक्ति विकसित हो। प्राणशक्ति को ५ भागों में बांटा गया है और इनके पृथक् कर्तव्य हैं। प्राणशक्ति का केन्द्र हृदय है। इसका कार्य है अशुद्ध रक्त को शुद्ध करना और शुद्ध रक्त को सारे शरीर में पहुंचाना। अपान-शक्ति का केन्द्र नाभि के नीचे मल-द्वार है। इसका काम है शरीर के मल-मूत्र को बाहर निकालना। समान वायु का केन्द्र नाभि है। इसका कार्य है भोजन पचाना और उसका रस निकालना। उदान वायु का केन्द्र कंठ है। इसका कार्य है प्राण-वायु को ऊपर ले जाकर ज्ञानतन्तुओं को शक्ति देना। व्यान वायु का कार्य है सारे शरीर में रक्त-संचार। इसको ही संक्षेप में इस प्रकार कहा गया है।

हृदि प्राणो गुदेऽपानः; समानो नाभिमण्डले।
उदानः कण्ठदेशस्थो, व्यानः सर्वशरीरगः॥

मंत्र में दूसरी बात कही गई है—यथासमय वर्षा। ठीक समय पर वर्षा होने से मनुष्य, पशु और ओषधियों आदि की सुरक्षा होती है। मनुष्यों और पशुओं की साधन-सामग्री अन्न और घास आदि वर्षा पर निर्भर है। इससे ही वृक्ष और वनस्पतियों का विकास होता है। अन्न आदि की समृद्धि से मनुष्य और पशु आदि सभी जीव सुरक्षित एवं आनन्दित रह सकते हैं।

टिप्पणी—(१) **प्राणम्**—प्राण वायु हृदय में रहती है। अपान वायु नाभि के नीचे रहती है। व्यान वायु सारे शरीर में व्याप्त है। (२) **पाहि**—रक्षा करो। पा (रक्षा करना, अदादि, पर०) + लोट् म० १। (३) **उर्व्या**—विस्तृत रूप से। उरु (विशाल) + ङीप् (ई) + तृ० १। (४) **विभाहि**—विशेषरूप से प्रकाशित करो, तेज दो। (५) **श्लोकय**—सुनने की शक्ति से युक्त करो। श्रु (सुनना) > श्लोक + णिच् + लोट् म० १। (६) **अपः पिन्व**—जल से सींचो, पृथिवी पर जल बरसाओ। पिन्व् (सींचना, भ्वादि, पर०) + लोट् म० १। (७) **जिन्व**—पुष्ट

करो, शक्ति दो। जिन्व् (शक्ति देना, भ्वादि, पर०) + लोट् म० १। (८) अव—रक्षा करो। अव् (रक्षा करना, भ्वादि, पर०) + लोट् म० १। (९) आ ईरय—प्रेरित करो, भेजो, लाओ। ईर् (प्रेरित करना, अदादि) + णिच् + लोट् म० १।

७८. सभी नीरोग और हृष्ट-पुष्ट हों

इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने,
क्षयद्वीराय प्र भरामहे मतीः।
यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे,
विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम् ॥

ऋग्० १-११४-१, यजु० १६-४८;
तैत्ति० सं० ४-५-१०-१

अन्वय—तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय रुद्राय इमाः मतीः प्र भरामहे। यथा द्विपदे चतुष्पदे शम् असत्। अस्मिन् ग्रामे विश्वं पुष्टम् अनातुरम् (असत्)।

शब्दार्थ—(तवसे) बलवान्, शक्तिशाली, (कपर्दिने) जटाधारी, (क्षयद्वीराय) वीरों पर शासन करने वाले, (रुद्राय) रुद्र के लिए, (इमाः मतीः) ये स्तुतियाँ, (प्र भरामहे) प्रस्तुत करते हैं समर्पित करते हैं, (यथा) जिससे, (द्विपदे) मनुष्यों के लिए, (चतुष्पदे) पशुओं के लिए, (शम्) सुख, कल्याण, (असत्) हो। (अस्मिन् ग्रामे) इस ग्राम में, (विश्वम्) सभी लोग, (पुष्टम्) हृष्ट-पुष्ट, (अनातुरम् असत्) नीरोग हों।

हिन्दी अर्थ—हम बलवान्, जटाधारी, वीरों के शासक, रुद्र के लिए ये स्तुतियाँ अर्पित करते हैं। जिससे हमारे मनुष्यों और पशुओं के लिए सुख हो। इस ग्राम में सभी हृष्ट-पुष्ट और नीरोग हों।

Eng. Tr.—We offer our prayers to Lord Rudra, who is brave, wears braided hair and governs the heroes, so that our men and animals may be happy. Let all the people in the village be healthy and free from the diseases.

अनुशीलन—इस मंत्र में कामना की गई है कि हमारे सभी देशवासी हृष्ट-पुष्ट और नीरोग हों। मनुष्यों के साथ ही पशु भी नीरोग और स्वस्थ हों। इसके लिए साधन बताया गया है कि रुद्र को प्रसन्न करें।

ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार शरीर में विद्यमान प्राण ही रुद्र हैं। मृत्यु के समय प्राण निकलते हैं और सभी रोते हैं। इस रोदन के आधार पर रुलाने वाले को रुद्र कहा गया है। अतएव जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में कहा गया है कि प्राण ही रुद्र हैं। ये सबको रुलाते हैं, अतः रुद्र हैं। शतपथ ब्राह्मण में भी शरीर छोड़ने के समय प्राण सबको रुलाते हैं, अतः इन्हें रुद्र कहा है। इनकी संख्या ११ बताई है। अतएव ११ रुद्र बताए जाते हैं। ये हैं—शरीर में रहने वाले १० प्राण और १ आत्मा।

प्राणा वै रुद्राः। प्राणा हीदं सर्वं रोदयन्ति। जैमि० उप०ब्रा० ४-२-६
कतमे रुद्रा इति। दशेमे पुरुषे प्राणाः, आत्मैकादशः। यद्
रोदयन्ति तस्माद् रुद्रा इति। शत० ब्रा० ११-६-३-७

सारा समाज, सारे मनुष्य और पशु हृष्ट-पुष्ट एवं नीरोग हों, इसके लिए आवश्यक है कि सर्वत्र प्राणशक्ति को पुष्ट किया जाए। प्राणशक्ति नीरोग होगी तो शरीर भी हृष्ट-पुष्ट होगा। मंत्र का कथन है कि समाज में कोई भी रोगी और निर्बल न हो, अपितु सभी हृष्ट-पुष्ट और नीरोग हों।

टिप्पणी—(१) **रुद्राय**—यहाँ रुद्र या शिव के सेनापति रूप का वर्णन है। (२) **तवसे**—बलवान्, शक्तिशाली। तवस् (बलवान्) + च० १। (३) **कपर्दिने**—जटाधारी। कपर्द (जटा) + मत्वर्थक इन् + च० १। (४) **क्षयद्वीराय**—वीरों के शासक। क्षयद्–निवास करते हैं, वीर–वीर जिसके आश्रय में। (५) **प्र भरामहे**—रखते हैं, देते हैं, अर्पित करते हैं। प्र + हृ (ले जाना, भ्वादि, आ०) + लट् उ० ३। हृ को भ् आदेश। (६) **मतीः**—बुद्धि, स्तुति। यहाँ स्तुति अर्थ है। (७) **शम्**—सुख, कल्याण। (८) **असत्**—होवे। अस् (होना, अदादि, पर०) + लेट् प्र० १। (९) **द्विपदे**—मनुष्यों के लिए। द्विपाद् + च० १। पाद् को पद्। (१०) **चतुष्पदे**—पशुओं के लिए। चतुष्पाद् + च० १। (११) **पुष्टम्**—हृष्ट-पुष्ट। पुष् + त। (१२) **अनातुरम्**—नीरोग। आतुर–रोगी, अनातुर–स्वस्थ।

७९. सभी मनुष्य और पशु नीरोग हों

मा वो रिषत् खनिता, यस्मै चाहं खनामि वः ।
द्विपाच्चतुष्पादस्माकं, सर्वमस्त्वनातुरम् ॥

ऋग्० १०-९७-२०; यजु० १२-९५; तैत्ति० सं० ४-२-६-५

अन्वय—(हे ओषधयः) वः खनिता मा रिषत्, यस्मै च अहं वः खनामि (स मा रिषत्) । अस्माकं द्विपात् चतुष्पात् सर्वम् अनातुरम् अस्तु ।

शब्दार्थ—(हे ओषधयः) हे ओषधियो, (वः) तुम्हारा, तुम्हें, (खनिता) खोदने वाला, तुम्हारी जड़ निकालने वाला, (मा रिषत्) नष्ट न हो । (यस्मै च अहम्) और मैं जिसके लिए, (वः खनामि) तुम्हें खोद रहा हूँ, वह रोगी भी नष्ट न हो । (अस्माकं द्विपात् चतुष्पात्) हमारे मनुष्य और पशु, (सर्वम्) सभी, (अनातुरम्) नीरोग, (अस्तु) हों ।

हिन्दी अर्थ—हे ओषधियो ! तुम्हें खोदने वाला (जड़ निकालने वाला) नष्ट न हो और जिसके लिए मैं तुम्हें खोदता हूँ, (वह रोगी भी नष्ट न हो) । हमारे सभी मनुष्य और पशु नीरोग हों ।

Eng. Tr.—O Herbs ! let not your digger and the person, for whom the herb is dug, be injured. May all our persons and animals be free from the diseases.

अनुशीलन—इस मंत्र में भी सभी मनुष्यों और पशुओं की नीरोगता की कामना की गई है । इसका साधन बताया गया है कि सभी कन्द मूल एवं जड़ी-बूटियों का सेवन करें ।

कन्द-मूल आदि ओषधियाँ खोदकर निकाली जाती हैं । इनमें शरीर को शुद्ध करने ओर शक्तिवर्धन की क्षमता होती है । इनमें पृथिवी और जल के गुण विशेष मात्रा में आते हैं, अतः पोषक तत्त्व अधिक रहते हैं । कन्द-मूल आदि के सेवन से मनुष्य अधिक नीरोग रहता है । समाज में सभी मनष्य और पशु नीरोग रहें, यही इस मन्त्र में प्रार्थना की गई है ।

टिप्पणी—(१) **मा रिषत्**—नष्ट न हो, क्षतिग्रस्त न हो । रिष् (क्षतिग्रस्त होना, दिवादि, पर०) + लुङ् प्र० १ । अडागम नहीं, Inj. है । (२) **खनिता**—खोदने वाला, जड़ निकालने वाला । खन् (खोदना) + तृ + प्र० १ । (३) **खनामि** खोदता हूँ । खन् (खोदना, भ्वादि, पर०) + लट् उ० १ । (४) **वः**—तुम्हारा, तुम्हें । युष्मद् (तू) + ष० ३ । युष्माकम् और युष्मान् के स्थान पर वः है । (५) **अनातुरम्**—नीरोग । आतुर–रोगी, अनातुर–नीरोग, स्वस्थ । (६) **पाठभेद**—ऋग्वेद में द्विपात् चतुष्पाद् के स्थान पर द्विपद् चतुष्पद् है ।

८०. कोई भूखा-प्यासा न रहे

इन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टो,
मरुद्भिरुग्रः प्रहितो न आगन् ।
एष वां द्यावापृथिवी उपस्थे,
मा क्षुधन्मा तृषत् ॥

अथर्व० २-२९-४

अन्वय—इन्द्रेण दत्तः, वरुणेन शिष्टः, मरुद्भिः प्रहितः, उग्रः नः आ अगन् । हे द्यावापृथिवी, एषः वाम् उपस्थे मा क्षुधत्, मा तृषत् ।

शब्दार्थ—(इन्द्रेण दत्तः) इन्द्र के द्वारा दिया हुआ, (वरुणेन शिष्टः) वरुण के द्वारा संस्तुत, (मरुद्भिः प्रहितः) मरुत् देवों के द्वारा भेजा हुआ, (उग्रः) तेजस्वी, बलिष्ठ यह मानव, (नः) हमारे पास, (आ अगन्) आया है । (हे द्यावापृथिवी) हे द्युलोक और पृथिवी, (एषः) यह मनुष्य, (वाम्) तुम दोनों के, (उपस्थे) गोद में, (मा क्षुधत्) न भूखा रहे, (न तृषत्) न प्यासा रहे ।

हिन्दी अर्थ—इस मानव को इन्द्र (परमात्मा) ने दिया है, वरुण (जल) ने संस्तुत किया है और मरुतों (प्राण-वायुओं) ने भेजा है । तेजस्वी यह जीव हमारे पास आया है, हे द्युलोक और पृथिवी ! यह जीव तुम दोनों की गोद में न भूखा रहे और न प्यासा रहे ।

Eng. Tr.—The man is created by the God Indra, recommended by the God Varuna and sent by the Marut-

Gods. This shining soul has come to us. O Heaven and Earth ! may this soul, in your lap, not suffer either from hunger or thirst.

अनुशीलन — इस मंत्र में सामाजिक व्यवस्था के लिए आवश्यक निर्देश दिया गया है कि समाज में कोई भी व्यक्ति भूखा-प्यासा नहीं रहना चाहिए।

मंत्र में बताया गया है कि मनुष्य परमात्मा की बहुत बड़ी देन है। इन्द्र, वरुण और मरुत् देवों की इस पर कृपा है। परमात्मा ने कर्मानुसार फल भोगने के लिए इसे जन्म दिया है। पृथ्वी ने शरीर दिया है, वरुण ने रक्त-संचार किया है और मरुतों ने प्राणवायु दी है। यह शरीर सुन्दर और स्वस्थ रहकर प्रगति और विकास करे, यही प्रभु की इच्छा है। अतएव सामाजिक व्यवस्था के लिए आदेश दिया गया है कि पृथ्वी की गोद में कोई भी मनुष्य भूखा-प्यासा न रहने पावे। यह राज्य और समाज का उत्तरदायित्व है कि वे इस ईश्वरीय आदेश का पालन करें।

टिप्पणी —(१) **इन्द्रेण दत्तः**—जीव इन्द्र या परमात्मा की देन है। दत्तः—दा (देना) + क्त (त)। दा को दद् आदेश। (२) **वरुणेन शिष्टः**—वरुण (जल देवता) के द्वारा संस्तुत या स्वीकृत है। शास् + क्त (त)। (३) **मरुद्भिः**—मरुतों या प्राणवायुओं के द्वारा। (४) **प्रहितः**—भेजा हुआ। प्र + हि (भेजना, स्वादि, पर०) + क्त (त)। (५) **आगन्**—आया है, प्राप्त हुआ है। आ + गम् (आना, भ्वादि, पर०) + लुङ् प्र० १। म् को न्। Root Aorist है। (६) **मा क्षुधत्**—भूखा न रहे। क्षुध् (भूखा होना, दिवादि, पर०) + लुङ् प्र० १। अडागम नहीं, Inj. है। (७) **मा तृषत्**—प्यासा न रहे। तृष् (प्यासा होना, दिवादि, पर०) + लुङ् प्र० १। अडागम नहीं, Inj. है।

८१. जल और ओषधियाँ सुखद हों

सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु,
दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु,
योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥

यजु० ३५-१२; ३६-२३; ३८-२३

अन्वय—आपः ओषधयः नः सुमित्रियाः सन्तु । यः अस्मान् द्वेष्टि, यं च वयं द्विष्मः, तस्मै दुर्मित्रियाः सन्तु ।

शब्दार्थ—(आपः) जल, (ओषधयः) ओषधियाँ, (नः) हमारे लिए, (सुमित्रियाः) सुन्दर मित्र के तुल्य, (सन्तु) हों । (यः) जो, (अस्मान्) हमसे, (द्वेष्टि) द्वेष करता है, (यं च वयं द्विष्मः) और जिससे हम द्वेष करते हैं, (तस्मै) उसके लिए, (दुर्मित्रियाः सन्तु) शत्रुतुल्य हों ।

हिन्दी अर्थ—जल और ओषधियाँ हमारे लिए सुन्दर मित्रवत् हों । जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं, उसके लिए ये शत्रुवत् हों ।

Eng. Tr.—May the waters and herbs be beneficial to us. Let them be hostile to him, who hates us or whom hate we.

अनुशीलन—इस मन्त्र में कामना की गई है कि जल और ओषधियाँ सारे समाज के लिए सुखद हों । जो समाज के लिए अहितकर व्यक्ति हैं, उनके लिए ये अशुभ हों ।

समाज के लिए अहितकर व्यक्ति कौन हैं ? इसका उत्तर मन्त्र में दिया गया है कि जो समाज से द्वेष करते हैं और जिनसे समाज द्वेष करता है । समाज किससे द्वेष करता है ? जो व्यक्ति स्व-हित या स्वार्थ के लिए ही सब कुछ करते हैं, वे समाज के द्वेष्य हैं । जहाँ मनुष्य के लिए व्यक्तिगत कर्तव्य बताए गए हैं, वहाँ सामाजिक कर्तव्य भी बताए गए हैं । जो सामाजिक कर्तव्यों की उपेक्षा करते हैं, उन्हें समाज घृणा की दृष्टि से देखता है । ऐसे व्यक्तियों को वेदों में अराति, अरावन्, अदाता आदि नामों से पुकारा गया है । समाज से ऐसे तत्त्वों के उन्मूलन का आदेश भी वेदों में दिया गया है ।

जो स्वास्थ्य के नियमों का पालन करते हैं, समाज की हित-चिन्ता करते हैं और प्राकृतिक नियमों के अनुकूल अपना जीवन व्यतीत करते हैं, उनके लिए जल और ओषधियाँ लाभप्रद सिद्ध होती हैं । प्रतिकूल आचरण करने वालों के लिए ये चीजें ही दुःखदायी सिद्ध होती हैं ।

टिप्पणी—(१) **सुमित्रियाः**—सुन्दर मित्र के तुल्य । सु + मित्र + घ (इय) । तुल्य आचरण करने अर्थ में इय प्रत्यय है । (२) **दुर्मित्रियाः**—दुष्ट मित्र के तुल्य, अर्थात् शत्रुवत् । दुर् + मित्र + इय । पूर्ववत् । (३) **द्वेष्टि**—द्वेष करता है । द्विष् (द्वेष करना, अदादि, पर०) + लट् प्र० १ । (४) **द्विष्मः**—हम द्वेष करते हैं । द्विष् (द्वेष करना) + लट् उ० ३ ।

८२. शिल्प से समृद्धि

त्वं नो अग्ने सनये धनानां,
यशसं कारुं कृणुहि स्तवानः ।
ऋध्याम कर्मापसा नवेन
देवैर्द्यावापृथिवी प्रावतं नः ॥

ऋग्० १-३१-८

अन्वय—हे अग्ने, स्तवानः त्वं धनानां सनये नः यशसं कारुं कृणुहि । नवेन अपसा कर्म ऋध्याम । हे द्यावापृथिवी, देवैः नः प्र अवतम् ।

शब्दार्थ—(हे अग्ने) हे अग्नि, (स्तवानः त्वम्) स्तुति किए जाते हुए तुम, (धनानाम्) धनों की, (सनये) प्राप्ति के लिए, (नः) हमें, (यशसम्) यशस्वी, (कारुम्) शिल्पी, (कृणुहि) कीजिए । (नवेन) नए, (अपसा) कर्म से, उद्योग से, (कर्म) अपने काम को, उद्योग को, (ऋध्याम) समृद्ध बनावें । (हे द्यावापृथिवी) हे द्युलोक और पृथिवी तुम दोनों, (देवैः) देवों के साथ, (नः) हमारी, (प्र अवतम्) रक्षा करो ।

हिन्दी अर्थ—हे अग्निरूप परमात्मन् ! स्तुति किए जाते हुए तुम ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए हमें यशस्वी शिल्पी बनाइए । नवीन उद्योग से अपने कार्य (उद्योग) को समृद्ध बनावें । हे द्युलोक और पृथिवी ! तुम दोनों अन्यदेवताओं के साथ हमारी रक्षा करो ।

Eng. Tr.—O God Fire! you being worshipped, make us famous craftsmen to get a glory and become glorious. With the new industry we may make our project flourishing and prosperous. O Heaven and earth! alongwith other Gods, protect us from all the calamities.

अनुशीलन—सुखी जीवन व्यतीत करने के लिए प्रत्येक मनुष्य को धन चाहिए। धन पुरुषार्थ के विना प्राप्त नहीं हो सकता है। पुरुषार्थ भी अनेक प्रकार के हैं। इन पुरुषार्थों में शिल्प का स्थान गौरवमय है। मन्त्र में वर्णन किया गया है कि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए कोई नया उद्योग प्रारम्भ करें। इससे समृद्धि प्राप्त होगी। शिल्प का सम्बन्ध मुख्यतया हस्त-उद्योग से है। इसमें मानसिक की अपेक्षा शारीरिक श्रम अधिक अपेक्षित है। यह मुख्यरूप से मध्यम-वर्गीय व्यक्तियों के लिए अधिक उपयोगी है। जो ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में उच्च योग्यता नहीं प्राप्त कर सकते हैं, उनके लिए शिल्प वरदान है। यह धन-प्राप्ति का उत्तम साधन है। जो व्यक्ति विशिष्ट ज्ञान-सम्पन्न हैं, वे भी शिल्प का मार्ग अपना सकते हैं। वे बड़े उद्योगपति हो सकते हैं। विविध उद्योग मनुष्य की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, अतः उद्योग या शिल्प का व्यवहारिक दृष्टि से बहुत महत्त्व है। धन-प्राप्ति का यह उत्तम साधन है। यदि इसमें सत्य-व्यवहार का समन्वय किया जाएगा तो श्रीवृद्धि स्थायी और सुखद होगी।

टिप्पणी—(१) **सनये**—पाने के लिए। सनि–पाना, च० १। (२) **यशसम्**—यशस्वी। यशस् + अ, द्वि० १। (३) **कारुम्**—शिल्पी, उद्योगकर्ता, उद्योगपति। (४) **कृणुहि**—करो। कृ (करना, स्वादि) + लोट् म० १। (५) **स्तवानः**—स्तुति किया जाता हुआ। स्तु (स्तुति करना, अदादि) + लट् > शानच् (आन) + , प्र० १। (६) **ऋध्याम**—समृद्ध हों, समृद्ध बनावें। ऋध् (सफल होना; स्वादि) + विधिलिङ् उ० ३। (७) **अपसा**—कार्य से, उद्योग से। अपस्—कार्य, तृ० १। (८) **अवतम्**—रक्षा करें। अव् (रक्षा करना, स्वादि) + लोट् म० २।

८३. विविध शिल्प

तपसे कौलालं, मायायै कर्मारं, रूपाय मणिकारं,
शुभे वपं, शरव्याया इषुकारं, हेत्यै धनुष्कारं,
कर्मणे ज्याकारं, दिष्टाय रज्जुसर्जं,
मृत्यवे मृगयुम्, अन्तकाय श्वनिनम् ॥

यजु० ३०-७

अन्वय—मन्त्र के अनुसार है।

शब्दार्थ—(तपसे कौलालम्) तपस्या या श्रमसाध्य कार्य के लिए कुम्हार को, (मायायै कर्मारम्) माया या शिल्प-दक्षता के लिए लोहार को, (रूपाय मणिकारम्) सुन्दर रूप वाली वस्तुओं को बनाने के लिए स्वर्णकार या रत्नकार को, (शुभे वपम्) शुभ कार्य के लिए बोने वाले किसान को, (शरव्यायै) लक्ष्य-वेध के लिए, (इषुकारम्) बाण बनाने वाले को, (हेत्यै धनुष्कारम्) क्षेप्य अस्त्र के लिए धनुष् बनाने वाले को, (कर्मणे ज्याकारम्) सुन्दर कार्य के लिए प्रत्यंचा बनाने वाले को, (दिष्टाय रज्जुसर्जम्) निर्दिष्ट कर्म के लिए रस्सी बनाने वाले को, (मृत्यवे मृगयुम्) वध के लिए शिकारी को, (अन्तकाय श्वनिनम्) शिकार करने के लिए कुत्ते रखने वाले को, उत्पन्न किया है।

हिन्दी अर्थ—श्रमसाध्य कार्य के लिए कुम्हार को, शिल्पकार्य के लिए लोहार को, सुरूप वस्तु के लिए सुनार को, शुभकार्य के लिए किसान को, लक्ष्य वेध के लिए बाण-निर्माता को, क्षेप्य अस्त्र के लिए धनुष-निर्माता को, कुशल कार्य के लिए प्रत्यंचा-निर्माता को, निर्दिष्ट कर्म के लिए रस्सी-निर्माता को, वध के लिए शिकारी को तथा शिकार के लिए कुत्ता-पालक को उत्पन्न किया है।

Eng. Tr.—The God has created the craftsmen for specific purposes, viz. the potter for hard work, the black-smith for manual labour, the gold-smith for beautification,

the farmer for noble work, the arrow-maker for hitting the mark, the bow-maker for missiles, the bow-string-maker for the efficient work, the rope-maker for the prescribed work, the hunter for the death, the dog-keeper for hunting.

अनुशीलन—इस मंत्र में विभिन्न शिल्पों और शिल्पियों का उल्लेख है। प्रत्येक के कर्मों का निर्देश भी किया गया है। मंत्र का अभिप्राय है कि सभी शिल्पी अपने अपने उद्योगों में विशेष उन्नति करें और समाज को अग्रसर करें।

जिस प्रकार आचार-विचार समाज को जीवनी शक्ति देते हैं, उसी प्रकार शिल्प और विविध व्यवसाय भी समाज की प्रगति एवं उन्नति में विशेष उपयोगी सिद्ध होते हैं। जिस समाज में शिल्प को महत्त्व दिया जाता है, वह समाज स्वावलम्बी होता है। वहाँ अर्थ-संकट नहीं होता और न निर्धनता ही रहती है। मंत्र में लोहार, सुनार, कुम्हार, किसान आदि के कर्तव्यों का अलग-अलग वर्णन किया गया है। जिस समाज में शिल्पियों को उचित संमान दिया जाता है, वह समाज सदा प्रगति करता है और समृद्धि में अग्रसर रहता है।

टिप्पणी—(१) **कौलालम्**—कुलाल-पुत्र को, कुम्हार को। (२) **कर्मारम्**—लोहार को। (३) **मणिकारम्**—सुनार या आभूषण-निर्माता को। (४) **शुभे**—शुभ कार्य के लिए। शुभ् + च० १। (५) **वपम्**—बीज बोने वाले को, किसान को। (६) **शरव्यायै**—लक्ष्य पर निशाना मारने के लिए। शरव्या + च० १। (७) **इषुकारम्**—बाण बनाने वाले को। (८) **हेत्यै**—हेति–क्षेप्य अस्त्र। हेति + च० १। (९) **ज्याकारम्**—प्रत्यंचा या धनुष की डोरी बनाने वाले को। (१०) **दिष्टाय**—निर्दिष्ट कार्य के लिए, आदेशानुसार काम करने के लिए। दिश् + त + च० १। (११) **रज्जुसर्जम्**—रस्सी बनाने वाले को। रज्जु + सृज् (बनाना) + घञ् (अ) + द्वि० १। (१२) **मृगयुम्**—शिकारी को। मृगया (शिकार मारना) + उ। (१३) **अन्तकाय**—मारने के लिए, समाप्त करने के लिए। (१४) **श्वनिनम्**—कुत्तापालक को। श्वन् (कुत्ता) + इन (स्वामी)—श्वनिन + द्वि० १।

८४. विविध कलाकार

महसे वीणावादं, क्रोशाय तूणवध्मम्,
अवरस्पराय शङ्खध्मं, वनाय वनपम्,
अन्यतोऽरण्याय दावपम् ॥

यजु० ३०-१९

अन्वय—मन्त्र के अनुसार है।

शब्दार्थ—(महसे) शुभ आयोजनों के लिए, उत्सवादि के लिए, (वीणावादम्) वीणा-वादक को, (क्रोशाय) तीव्र आवाज के लिए, (तूणवध्मम्) बांसुरी-वादक या मुरलीवादक को, (अवरस्पराय) उच्च-नीच ध्वनि के लिए, (शङ्खध्मम्) शंख-वादक को, (वनाय) वन की रक्षा के लिए, (वनपम्) वन-रक्षक को, (अन्यतः अरण्याय) दूरस्थ वनों की अग्नि से रक्षा के लिए, (दावपम्) वनाग्नि-रक्षक को, दावाग्नि से रक्षक को, नियुक्त करे।

हिन्दी अर्थ—शुभ आयोजनों के लिए वीणावादक को, तीव्र ध्वनि के लिए मुरली-वादक को, उच्च-नीच ध्वनि के लिए शंखवादक को, वन की रक्षा के लिए वन-रक्षक को, दूरस्थ वनों की आग बुझाने के लिए वनाग्नि-रक्षक को नियुक्त करे।

Eng. Tr.—These should be appointed :—Viz. the lute-player for ceremonies, the flute-player for thrilling notes, the conch-blower for high and low tunes, the forest-ranger for the safety of the forest, the forest-fire-fighter for extinguishing the fire in the distant forests.

अनुशीलन—इस मंत्र में समाज में ललित कला के प्रति रुचि उत्पन्न करने का निर्देश है। समाज के विभिन्न शुभ अवसरों के लिए वीणावादक, मुरलीवादक और शंखवादकों की आवश्यकता है।

संगीत जीवन की सरसता का प्रतीक है। संगीत मानव के कोमल ज्ञान-तन्तुओं को प्रबुद्ध करता है। जीवन में हार्दिक प्रसन्नता और आन्तरिक आनन्दानुभूति के

लिए संगीत सर्वोत्तम साधन है। समाज में प्रेम, उदारता और मधुरता का वातावरण बनाने के लिए संगीत अत्यन्त उपयोगी है। संगीत समाज की उच्च कलाप्रियता का द्योतक है। वेद ने हस्त-शिल्पों के साथ ही कला-शिल्पों की भी आवश्यकता पर बल दिया है। प्राचीन समय में संगीत पर पर्याप्त बल दिया जाता था। सामवेद संगीत-प्रधान वेद है। पतंजलि मुनि ने महाभारत (आह्निक १) में **'सहस्रवर्त्मा सामवेदः'** लिखकर सूचित किया है कि सामवेद का संगीतात्मक गान हजारों रूप में प्रचलित था।

मंत्र में समीपस्थ और दूरवर्ती वनों की रक्षा के लिए विभिन्न अधिकारियों की नियुक्ति का आदेश दिया है। वातावरण को संतुलित रखने में, वर्षा को नियमित करने में और नदियों आदि के प्रवाह को व्यवस्थित रखने में वनों की बहुत अधिक उपयोगिता है।

टिप्पणी—(१) **महसे**—महोत्सव के लिए, शुभ आयोजनों के लिए। महस् + च० १। (२) **क्रोशाय**—तीव्र ध्वनि के लिए। (३) **तूणवध्मम्**—मुरली या बांसुरी बजाने वाले को। तूणव (मुरली) + ध्मा (फूंकना, बजाना) + क (अ) = तूणवध्म + द्वि० १। (४) **अवरस्पराय**—अवर–समीप, पर–दूर, थोड़ी दूर तक के लिए। (५) **शंखध्मम्**—शंख बजाने वाले को। शंख + ध्मा + क (अ)। (६) **वनपम्**—वनरक्षक को। वन + पा (रक्षा करना) + क (अ) + द्वि०१। (७) **अन्यतः अरण्याय**—अन्यतः–दूसरी ओर के, दूरस्थ वनों के लिए। (८) **दावपम्**—जंगल की अग्नि से बचाने वाले को। दाव (वनाग्नि) + पा (रक्षा करना) + क (अ) + द्वि० १।

८५. सभी दोष दूर करें

मा नो अग्नेऽमतये, मावीरतायै रीरधः।
मागोतायै सहसस्पुत्र मा निदे, अप द्वेषांस्या कृधि ॥

ऋग्० ३-१६-५

अन्वय—हे सहसस्पुत्र अग्ने, नः अमतये मा रीरधः। अवीरतायै मा (रीरधः), अगोतायै मा (रीरधः), निदे मा (रीरधः), द्वेषांसि अप आ कृधि।

शब्दार्थ—(हे सहसस्पुत्र अग्ने) हे शक्ति के पुत्र अग्नि, (नः) हमें, (अमतये) बुद्धि-हीनता के, किंकर्तव्यविमूढता के, (मा रीरधः) वशीभूत न होने दो। (अवीरतायै मा रीरधः) अवीरता या अनुत्साह के वशीभूत न होने दो। (अगोतायै मा रीरधः) असमृद्धि या पशुहीनता के वशीभूत न होने दो। (निदे मा रीरधः) निन्दा या उपहास के वशीभूत न होने दो। (द्वेषांसि) द्वेषकर्ताओं को या घृणा के भाव को, (आप आ कृधि) दूर करो।

हिन्दी अर्थ—हे शक्ति के पुत्र अग्नि! तुम हमें दुर्बुद्धि, अवीरता, असमृद्धि और निन्दा के वशीभूत न होने दो। तुम हमारे शत्रुओं को दूर करो।

Eng. Tr.—O Fire-God, son of strength! may you not make us subject to the ignorance, cowardice, poverty and contempt. May you keep our enemies away.

अनुशीलन—इस मंत्र में कतिपय सामाजिक न्यूनताओं का उल्लेख है और परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि वह हमारे समाज से इन न्यूनताओं को दूर करे। ये सामाजिक न्यूनताएँ हैं—१. अशिक्षा, २. अशौर्य, ३. असमृद्धि, ४. हीनता की भावना, ५. द्वेष की भावना।

समाज को उन्नत करने के लिए आवश्यक है कि उसमें उच्च संस्कृति का प्रसार हो। व्यक्ति हो या समाज, वह तभी उन्नत और विकसित माना जाता है, जब उसमें उच्च संस्कृति हो। इन सांस्कृतिक मूल्यों में सर्वप्रथम है—सद्बुद्धि और सुशिक्षा। समाज को उन्नत करने के लिए उच्च शिक्षा और सद्बुद्धि की सर्वप्रथम आवश्यकता है। शिक्षा के साथ ही समाज में शौर्य की आवश्यकता है। कायर, निरुत्साह, डरपोक और निर्बल व्यक्ति किसी भी समाज को उन्नत नहीं कर सकते हैं, अतः मंत्र में अवीरता के त्याग का उल्लेख किया गया है।

'अगोता' शब्द से असमृद्धि का निर्देश है। समाज की उन्नति के लिए धन-धान्य, पशु-समृद्धि और वैभव अनिवार्य है। अतः मंत्र में असमृद्धि को दूर करना आवश्यक बताया गया है। साथ ही हीनता की भावना को दूर करने की शिक्षा

दी गई है। जब व्यक्ति निकृष्ट कर्मों में लगेगा, तब उसमें हीनता की भावना उत्पन्न होगी। अतः शिक्षा दी गई है कि ऐसा कोई निकृष्ट कार्य न करें, जिससे समाज में निन्दा हो। निकृष्ट कर्मों के कारणों में द्वेष प्रमुख है। अतः मंत्र में द्वेष की भावना को दूर करने की शिक्षा दी गई है।

टिप्पणी—(१) **मा रीरधः**—वश में या अधीन न होने दो। रध् (वशीभूत होना, अधीन होना, दिवादि, पर०) णिच् + लुङ् म० १। णिजन्त का रूप है। अडागम नहीं, Inj. है। (२) **अमतये**—बुद्धिहीनता के, किंकर्तव्यविमूढ़ता के। अमति का अर्थ लाचारी और दरिद्रता भी है। अमति + च० १। (३)**अवीरतायै**—अवीरता, कायरता, अनुत्साह के। अवीरता का अर्थ वीरसंतान से रहित होना भी है। (४) **अगोतायै**—गो आदि से रहित होना या असमृद्धि के। अ + गोता (गाय-युक्तता) + च० १। (५) **सहसस्पुत्र**—अग्नि शक्ति या बल का पुत्र है। शक्ति या रगड़ से अग्नि उत्पन्न होती है। (६) **निदे**—निन्दा या उपहास के। निद् (निन्दा) + च० १। (७) **द्वेषांसि**—शत्रुओं को या द्वेष की भावना को। द्वेषस् + द्वि० ३। (८) **अप आ कृधि**—दूर करो। कृ (करना, अदादि, पर०) + लोट् म० १।

८६. दुर्वचन न बोलें

चतुरश्चिद् ददमानाद्, बिभीयादा निधातोः।
न दुरुक्ताय स्पृहयेत् ॥

ऋग्० १-४१-९; निरुक्त ३-१६

अन्वय—चतुरः चित् ददमानात् आ निधातोः बिभीयात्। दुरुक्ताय न स्पृहयेत्।

शब्दार्थ—(चतुरः चित्) चार पैसे भी ऋण, नाममात्र का ऋण, (ददमानात्) देने वाले से, (आ निधातोः) ऋण लौटाने तक, (बिभीयात्) डरे।(दुरुक्ताय) दुर्वचन को, (न) नहीं, (स्पृहयेत्) चाहे, दुर्वचन न बोले।

हिन्दी अर्थ—नाम मात्र का ऋण देने वाले से भी, जब तक उसका ऋण न उतार दे तब तक, डरता रहे। दुर्वचन न बोले।

Eng. Tr. —As long as one does not repay the debt, may it be even a negligible amount, one should be afraid of the creditor and should not utter harsh words.

अनुशीलन—इस मंत्र में शिक्षा दी गई है कि दुर्वचन या कटुवचन कभी न बोलें।

समाज की व्यवस्था को दूषित करने में कटुवचन का बहुत बड़ा हाथ है। कटाक्ष, दुर्वचन और कटुवचन, ये समाज के सद्भाव को नष्ट करते हैं, अतः समाज की व्यवस्था की सुरक्षा के लिए कटुभाषण सर्वथा त्याज्य है। समाज में प्रेम-भावना और सद्भावना बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि कटुवचन का सदा त्याग करे। कटुवचन के त्याग को वशीकरण मंत्र कहा गया है।

'वशीकरण इक मंत्र है, तज दे वचन कठोर'।

आचार्य चाणक्य ने भी कटुवचन की कड़ी निन्दा की है और कहा है कि मर्मवेधी वचन अग्निदाह से भी अधिक दुःखदायी होता है।

अग्निदाहादपि विशिष्टं वाक्पारुष्यम्। चा० सूत्र ७५

महाभारत में भी कहा गया है कि यदि समाज में सर्वप्रिय होना चाहते हो और सबको अपने वश में करना चाहते हो तो पर-निन्दा और कटुवचन छोड़ दो।

यदीच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा।
परापवाद-सस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय॥ महाभारत

मंत्र में यह भी शिक्षा दी गई है कि किसी का छोटे से छोटा भी ऋण न रखे। ऋण जितना शीघ्र संभव हो, उतार देना चाहिए। ऋणी होना, कर्ज न उतारना या ऋणदाता को कटु शब्द कहना, यह अत्यन्त निकृष्ट कार्य है।

टिप्पणी—(१) **चतुरः चित्**—चार भी। यहाँ चार से चार पैसे या चार चीजें अर्थ है। चतुर् (चार) + द्वि० ३। चित्—भी। (२) **ददमानात्**—देने वाले से। दद् (देना, भ्वादि, आ०) + शानच् (आन) + पं० १। (३) **बिभीयात्**—डरे। भी (डरना, जुहो०, पर०) + विधि० प्र० १। (४) **आ निधातोः**—लौटाने तक, उतारने तक। यहाँ ऋण उतारने तक अर्थ है। नि + धा + तोः। (५)

दुरुक्ताय—दुर्वचन को । दुर्–बुरा, उक्त–कथन । स्पृह् धातु के कारण चतुर्थी है ।
(६) **स्पृहयेत्**—चाहे । स्पृह् (चाहना, चुरादि, पर०) + णिच् विधि० प्र० १ ।

८७. कटुवचन का उत्तर न दें

मा वो घ्नन्तं मा शपन्तं, प्रति वोचे देवयन्तम् ।
सुम्नैरिद् व आ विवासे ॥

ऋग्० १-४१-८

अन्वय—(हे देवाः) देवयन्तं घ्नन्तं वः मा प्रति वोचे, शपन्तं मा (प्रति वोचे)। सुम्नैः इत् वः आ विवासे ।

शब्दार्द—(हे देवाः) हे देवो, (देवयन्तम्) देवभक्त या आस्तिक मुझको, (घ्नन्तम्) मारनेवाले या हानि पहुँचाने वाले को, (वः) तुमसे, (मा प्रति वोचे) नहीं कहता हूँ, तुमसे शिकायत नहीं करता हूँ । (शपन्तं मा प्रतिवोचे) इसी प्रकार कटुवचन बोलने वाले की भी तुमसे शिकायत नहीं करता हूँ । (सुम्नैः इत्) सुख से ही, शान्ति से ही, (वः) तुम्हें, (आ विवासे) प्राप्त करना चाहता हूँ ।

हिन्दी अर्थ—हे देवो ! मुझ देवभक्त को कोई मारता है (हानि पहुँचाता है) या कटुवचन कहता है तो उसकी बात तुमसे नहीं कहता हूँ । मैं सुख से ही (शान्ति से ही) तुम्हें प्राप्त करना चाहता हूँ ।

Eng. Tr.—O Gods ! I never complain to you even if one harms me or abuses with harsh words. I desire to approach you patiently.

अनुशीलन—इस मंत्र में कटु-वचन आदि की एक मनोवैज्ञानिक चिकित्सा बताई गई है । मंत्र का कथन है कि कोई गाली दे, मारे, दंड दे या अन्य किसी प्रकार से हानि पहुँचावे, तो उसका उत्तर ही न दो । शान्त रहना और सहिष्णुता इसकी सर्वोत्तम चिकित्सा है ।

इस मंत्र का अभिप्राय है कि जो सन्मार्ग या देवमार्ग पर चलता है, उसे लोग सताते हैं, बुरा-भला कहते हैं और कभी-कभी उस पर प्रहार भी करते

हैं। इसके दो उपाय हैं—१.ईंट का जवाब पत्थर से दिया जाए। कटुभाषण आदि का उत्तर और अधिक कटुता से दिया जाए। परन्तु यह निकृष्ट प्रकार है। इससे बात शान्त नहीं होगी और कटुता बढ़ेगी। २. दूसरा उपाय है—तितिक्षा, सहनशीलता, उपेक्षा। कोई कटुवचन कहता है, गाली देता है या प्रहार करने पर उतारू है, तो उसकी उपेक्षा कर दें, उसका उत्तर न दें। थोड़े समय के बाद वह स्वयं शान्त हो जाएगा। इसलिए धम्मपद आदि में कहा गया है कि क्रोध को अक्रोध से जीते। असाधु को सज्जनता से जीते।

अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्, असाधुं साधुना जयेत्। महाभारत, उद्योग० ३९-७३

टिप्पणी—(१) **मा वः प्रति वोचे**—तुमसे नहीं कहता हूँ। मा—नहीं, प्रतिवोचे—कहता हूँ, प्रतिवाद करता हूँ। प्रति + ब्रू (वच्, कहना, अदादि, आ०) + लुङ् + उ० १। ब्रू को वच् आदेश। अडागम नहीं, Inj. है। (२) **घ्नन्तम्**—मारने या हानि पहुँचाने वाले को। हन् (मारना, अदादि) + शतृ + द्वि० १। (३) **शपन्तम्**—कटुवचन कहने वाले को, गाली देने वाले को। शप् (गाली देना, भ्वादि, पर०) + शतृ + द्वि १। (४) **देवयन्तम्**—देवभक्त को। देव + क्यच् (य) + शतृ + द्वि० १। चाहने अर्थ में नामधातु क्यच् प्रत्यय है। देवों को चाहने वाले मुझको। (५) **सुम्नैः**—सुख से, शान्ति से। (६) **आ विवासे**—पाना चाहता हूँ। आ + वन् (पाना, भ्वादि, आ०) + इच्छा अर्थ में सन् (स) + लट् उ० १। वन् धातु से सन् प्रत्यय करने पर विवास बनता है।

८८. पाप और निन्दा में न फंसें

मा पापत्वाय नो नरा, इन्द्राग्नी माभिशस्तये।
मा नो रीरधतं निदे॥

ऋग्० ७-९४-३; साम० ९१८

अन्वय—हे नरा इन्द्राग्नी, नः पापत्वाय मा रीरधतम्, अभिशस्तये मा (रीरधतम्), नः निदे मा (रीरधतम्)।

शब्दार्थ—(हे नरा इन्द्राग्नी) हे मानवीय गुणों वाले इन्द्र और अग्नि, (नः)

हमें, (पापत्वाय) पाप-भावना या हीनभावना के, (मा रीरधतम्) वशीभूत न होने दो । (अभिशस्तये मा रीरधतम्) दोषारोपण के वशीभूत न होने दो, (नः निदे मा रीरधतम्) हमें निन्दा या उपहास के वशीभूत न होने दो ।

हिन्दी अर्थ—हे मानवीय गुणों से युक्त इन्द्र और अग्नि ! तुम दोनों हमें पापभावना, दोषारोपण और निन्दा के वशीभूत न होने दो ।

Eng. Tr.—O Indra and Fire-God, bearing human qualities ! make us not subject to evil-deeds, accusation and contempt.

अनुशीलन—इस मंत्र में शिक्षा दी गई है कि—१. पापों में न फंसें, २. दोषारोपण में न फंसें, ३. समाज में निन्दा के पात्र न हों ।

समाज में उच्च जीवन व्यतीत करने के लिए आवश्यक है कि दुर्गुणों में न फंसें । जो एक बार दुर्गुणों में फंस जाता है, उसका उद्धार कठिन है । पाप जीवन को पतित करते हैं । पाप से शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक क्षति होती है । अतः जीवन की सुरक्षा के लिए पापों और दुष्कर्मों से बचना आवश्यक है ।

दोषारोपण आत्महीनता का परिचायक है । पर-छिद्रान्वेषण अत्यन्त सरल है, परन्तु अपने दुर्गुणों को देखना कठिन है । दोषारोपण अपनी निकृष्टता और अयोग्यता का सूचक है । आचार्य चाणक्य ने स्पष्ट रूप से कहा है कि जो सभा आदि में दूसरों पर आक्षेप करता है, वह अपनी निकृष्टता सिद्ध करता है । परदोषारोपण अपने आपको दोषी सिद्ध करना है ।

यः संसदि परदोषं शंसति,
स स्वदोषबहुत्वं प्रख्यापयति ॥ चा० सूत्र १४७

समाज में रहते हुए निन्दा के पात्र न हों । निन्दा का पात्र कौन होता है ? जो पाप करता है, दूसरों का अहित सोचता या करता है, जो दुर्गुणों में फंसा है, वह निन्दा का पात्र होता है । अतः आवश्यक है कि दुर्गुणों और दुष्कर्मों से बचें । सत्कर्मों से ही व्यक्ति समाज में आदर का पात्र होता है ।

टिप्पणी—(१) **मा रीरधतम्**—तुम दोनों हमें वशीभूत न होने दो । देखो मंत्र ८५ की टिप्पणी भी । रध् (वशीभूत होना, दिवादि, पर०) + णिच् + लुङ्,

म० २। णिजन्त का रूप है। अडागम नहीं, Inj. है। (२) **पापत्वाय**—पाप कार्य या पापभावना के, हीनभावना के। पाप + त्व + च० १। (३) **नरा**—नरौ, मानवीय गुणों से युक्त। नरौ का संक्षिप्त रूप नरा है। (४) **अभिशस्तये**—दोषारोपण के, निन्दा के। अभि + शंस् (दोष लगाना) + क्तिन् (ति) + च० १। (५) **निदे**—निन्दा के। निद् (निन्दा) + च० १।

८९. मायावी को माया से जीतें

मायाभिरिन्द्र मायिनं, त्वं शुष्णमवातिरः।
विदुष्टे तस्य मेधिरास्, तेषां श्रवांस्युत्तिर॥

ऋग्० १-११-७

अन्वय—हे इन्द्र, त्वं मायिनं शुष्णं मायाभिः अव अतिरः। मेधिराः ते तस्य विदुः। तेषां श्रवांसि उत् तिर।

शब्दार्थ—(हे इन्द्र) हे इन्द्र, (त्वम्) तूने, (मायिनम्) मायावी, छली, कपटी, (शुष्णम्) शोषक, जनता के शोषक व्यक्ति को, (मायाभिः) माया से, चतुरता से, (अव अतिरः) जीता। (मेधिराः) विद्वान् व्यक्ति, (ते) तुम्हारे, (तस्य) उस काम को, (विदुः) जानते हैं। (तेषाम्) उनके, (श्रवांसि) यश को, समृद्धि को, (उत् तिर) बढ़ावो, पार करो।

हिन्दी अर्थ—हे इन्द्र! तूने मायावी एवं शोषणकर्ता को माया से ही जीता है। विद्वान् तुम्हारे इस काम को जानते हैं। तुम उनका यश बढ़ाओ।

Eng. Tr.—O Indra! you conquered the fraudulent and the exploiting-ones by your tricks. The wise know of it. May you expand their fame.

अनुशीलन—इस मंत्र में कूटनीति की शिक्षा दी गई है कि शत्रु पर विश्वास न करे और मायावी के साथ माया का व्यवहार करे।

समाज में जो शोषक तत्त्व हैं या कपट-व्यवहार से जो अपनी आजीविका चलाते हैं, उन्हें मंत्र में मायावी कहा गया है। शिक्षा दी गई है कि उनको उसी

प्रकार से नष्ट किया जाए। उनके साथ कोई सरलता न बरती जाए। यही विद्वानों का अभिमत है। इस विषय में महाभारत में उत्तम शिक्षा दी गई है कि सज्जन के साथ सज्जनता का व्यवहार करे और धूर्त के साथ धूर्तता का।

मायाचारो मायया वर्तितव्यः,
साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥ महाभारत, उद्योगपर्व ३७-७

अन्यत्र भी इसी प्रकार का विधान है कि शठ से शठता करे।

शठे शाठ्यं समाचरेत् ॥
आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः ॥ नैषध ५-१०३

आचार्य चाणक्य ने इससे आगे बढ़कर कहा है कि शत्रु को जैसे भी हो नष्ट करे। शत्रु का छिद्र देखते ही उस पर प्रहार कर दे।

शत्रुं छिद्रे प्रहरेत्। चा० सूत्र १९४

टिप्पणी—(१) मायाभिः—माया से, चतुरता से। (२) **मायिनम्**—मायावी, कपटी। माया + मत्वर्थक इन् + द्वि० १। (३) **शुष्णम्**—शोषक, जनता के शोषक व्यक्ति को। (४) **अव अतिरः**—जीता, हरा दिया। अव + तॄ (पार करना, तुदादि, पर०) + लङ् म० १। (५) **विदुः**—जानते हैं। विद् (जानना, अदादि, पर०) + लट् प्र० ३। (६) **मेधिराः**—मेधावी, विद्वान्। मेध् + इर + प्र० ३। (७) **श्रवांसि**—कीर्ति, यश, अन्न। श्रवस् (कीर्ति, नपुं०) + द्वि० ३। (८) **उत् तिर**—बढ़ाओ, पार लगाओ। उद् + तॄ (पार करना, तुदादि, पर०) + लोट् म० १।

९०. छिपे शत्रुओं को बाहर निकालें

मा प्र गाम पथो वयं, मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः।
मान्तः स्थुर्नो अरातयः ॥

ऋग्० १०-५७-१; अथर्व० १३-१-५९

अन्वय—हे इन्द्र, वयं पथः मा प्र गाम। सोमिनः यज्ञात् मा (प्र गाम)। अरातयः नः अन्तः मा स्थुः।

शब्दार्थ—(हे इन्द्र) हे इन्द्र, हे परमात्मन्, (वयम्) हम, (पथः) सन्मार्ग से, (मा) मत, (प्र गाम) हटें, दूर हों। (सोमिनः) हम सोमपान करने वाले, (यज्ञात्) यज्ञ से, (मा प्र गाम) न हटें, दूर न हों, यज्ञ न छोड़ें। (अरातयः) शत्रु, (नः अन्तः) हमारे अन्दर, (मा स्थुः) न रहें, न रहने पावें।

हिन्दी अर्थ—हे परमात्मन् ! हम सन्मार्ग से न हटें। सोमपान करने वाले हम यज्ञ न छोड़ें। शत्रु हमारे अन्दर न रहने पावें।

Eng. Tr.—O God ! may we not go astray. May we, the Soma-drinkers, not leave the sacrifice. Let not the enemies exist in our midst.

अनुशीलन—इस मंत्र में समाज की समृद्धि के लिए दो शिक्षाएं दी गई हैं। ये हैं—१. सन्मार्ग से न हटें, २. समाज के अन्दर के शत्रुओं को नष्ट करें।

समाज की उन्नति लोगों के सन्मार्ग पर चलने से ही होती है। असत्मार्ग सदा पतन का कारण है। सन्मार्ग को अपनाने से समाज में नैतिकता, शुद्धता और उदात्तता रहती है। समाज की अशुद्धि जन-साधारण तक पहुँच कर आन्तरिक दोष उत्पन्न करती है, अतः कभी भी असत् मार्ग को प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए।

मंत्र का यह भी आदेश है कि हमारे समाज में छिपे हुए शत्रु न रहने पावें। शोषकवर्ग और स्वार्थीवर्ग समाज का आन्तरिक शत्रु है। यह तत्त्व समाज को अन्दर से खोखला करता है। अतः मंत्र का आदेश है कि ये आन्तरिक शत्रु बाहर निकाले जाएं। महाभारत का यह कथन उपयुक्त है कि शत्रु छोटा हो या बड़ा, उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। विष और अग्नि थोड़ी मात्रा में होने पर भी घातक और नाशक होते हैं। इन्हें शीघ्रातिशीघ्र बाहर निकालना चाहिए।

न च शत्रुरवज्ञेयो, दुर्बलोऽपि बलीयसा।
अल्पोऽपि हि दहत्यग्निर्विषमल्पं हिनस्ति च ॥ महा० शान्ति० ५८-१७

टिप्पणी—(१) **मा प्र गाम**—न हटें, दूर न जावें। मा–मत। प्र + इ (जाना, अदादि, पर०) + लुङ् उ० ३। इ को गा आदेश। अडागम नहीं, Inj. है। (२) **पथः**—मार्ग से, सन्मार्ग से। पथिन् (मार्ग) + पं० १। (३) **सोमिनः**—

सोमपान करने वाले हम। सोम + मत्वर्थक इन् + प्र० ३। (४) **मा स्थुः**—न रहने पावें। स्था (रुकना, रहना, भ्वादि, पर०) + लुङ् प्र० ३। अडागम नहीं, Inj. है। (५) **अरातयः**—शत्रु, अदाता। अराति (शत्रु) + प्र० ३।

९१. शोषक वर्ग का नाश हो

ता महान्ता सदस्पती, इन्द्राग्नी रक्ष उब्जतम्।
अप्रजाः सन्त्वत्रिणः॥

ऋग्० १-२१-५

अन्वय—ता महान्ता सदस्पती इन्द्राग्नी, रक्षः उब्जतम्। अत्रिणः अप्रजाः सन्तु।

शब्दार्थ—(ता) वे दोनों, (महान्ता) महान्, (सदस्पती) सभागृह के रक्षक, (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि देवता, (रक्षः) राक्षसों को, (उब्जतम्) नष्ट करें, बलपूर्वक बाहर करें। (अत्रिणः) स्वार्थी एवं शोषक मनुष्य, (अप्रजाः) सन्तानहीन, नष्ट, (सन्तु) हों।

हिन्दी अर्थ—वे महान्, सभागृह के रक्षक, इन्द्र और अग्नि देव, राक्षसों को बाहर करें। शोषकवर्ग सन्तानहीन (नष्ट) हों।

Eng. Tr.—The great guardians of the assemblies, Indra and Fire-God, may throw the demons away. Let the exploiters be perished.

अनुशीलन—इस मंत्र में समाज के शोषक तत्त्वों को नष्ट करने की आज्ञा दी गई है। समाज के शोषक तत्त्व दो प्रकार के हैं—१. दुराचारी, २. स्वार्थी, धन-लोलुप।

समाज को नष्ट करने वाले तत्त्वों में प्रमुख हैं—दुराचारी और दुर्व्यसनी। इन्हें रक्षस् या राक्षस कहा जाता है। ये समाज में अव्यवस्था फैलाते हैं। अनाचार, दुर्नीति, पाप, दुर्व्यसन आदि का व्यापक प्रचार करने के कारण ये समाज में अनैतिकता का वातावरण तैयार करते हैं। अतएव मंत्र में इनको **नष्ट** करने का आदेश दिया गया है।

समाज को नष्ट करने वाला दूसरा तत्त्व है—शोषक, स्वार्थी और धनलोलुप वर्ग। वेद में इनको अत्रिन् कहा गया है। अद् धातु का अर्थ है—खाना। ये समाज को ही खा जाते हैं। स्वार्थी और धन-पिशाच व्यक्ति समाज की चिन्ता न करके केवल अपनी स्वार्थ-सिद्धि में लगे रहते हैं, अतः इन्हें अत्रिन् कहा गया है। इनको समाज से निकालने और नष्ट करने का आदेश दिया गया है। ये सन्तान-हीन हों, इनकी वंश-परंपरा नष्ट हो और इनका अस्तित्व ही समाप्त हो जाए। समाज में स्वार्थी तत्त्वों को कभी भी प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिए।

टिप्पणी—(१) **ता महान्ता**—तौ महान्तौ, महान् वे दोनों। (२)**सदस्पती**—सभागृह के रक्षक। सदस्—सभा, पति—रक्षक। (३) **उब्जतम्**—निकालें, नष्ट करें। उब्ज् (बाहर निकालना, नष्ट करना, तुदादि, पर०) + लोट् म० २। (४) **अप्रजाः**—सन्तानरहित, अनुत्पन्न, नष्ट। (५) **अत्रिणः**—स्वार्थी, खाऊ, शोषक। केवल अपना पेट पालने वाले। अद् (खाना) + त्रिन् = अत्रिन् + प्र० ३।

९२. दुर्जनों से सावधान रहें

मा नः शंसो अररुषो, धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य।
रक्षा णो ब्रह्मणस्पते ॥

ऋग्० १-१८-३; यजु० ३-३०

अन्वय—अररुषः मर्त्यस्य शंसः धूर्तिः नः मा प्रणक्। हे ब्रह्मणस्पते, नः रक्ष।

शब्दार्थ—(अररुषः) अदाता, कंजूस, शत्रु, (मर्त्यस्य) मनुष्य का, (शंसः) अनिष्टचिन्तन, (धूर्तिः) धूर्तता, कपट-व्यवहार, हिंसाकर्म, (नः) हमारे पास, (मा प्रणक्) न पहुँचे। (हे ब्रह्मणस्पते) हे ज्ञान के अधिपति परमात्मन्, (नः) हमारी, (रक्ष) रक्षा करो।

हिन्दी अर्थ—शत्रु जनों का अनिष्टचिन्तन और कपट-व्यवहार हमारे पास तक न पहुँचे। हे ज्ञान के अधिपति परमात्मन्! तुम हमारी रक्षा करो।

Eng. Tr.—May, the ill-wills and treacherous actions of the enemies, not approach us. O Lord of sacred knowledge! may you protect us.

अनुशीलन—इस मंत्र में शिक्षा दी गई है कि शत्रुओं की चेष्टाओं से सदा सावधान रहें। शत्रु सदा दुर्भावनाओं से युक्त होता है, अतः वह समाज और व्यक्ति का अहित ही सोचता है। वह व्यक्ति और समाज के जीवन को दूषित करने का प्रयत्न करता है, अतः शत्रु से सदा सावधान रहने की शिक्षा दी गई है।

इस विषय में आचार्य चाणक्य का कथन है कि नीच पुरुष सदा कपट-व्यवहार ही करते हैं। इसलिए उनका कभी विश्वास नहीं करना चाहिए। सज्जनता का व्यवहार करने पर भी वे दुःख ही देते हैं। दावाग्नि चन्दन को भी जला देती है।

निकृतिप्रिया नीचाः। चा. सूत्र २०२
तेषु विश्वासो न कर्तव्यः। चा. सूत्र २०४
सुपूजितोऽपि दुर्जनः पीडयत्येव। चा. सूत्र २०५
चन्दनादीनपि दावाग्निर्दहत्येव। चा. सूत्र २०६

महाभारत शान्तिपर्व में भी यही शिक्षा दी गई है कि शत्रु से सदा सावधान रहना चाहिए। जिस प्रकार पूंछ-कटा सर्प भयंकर होता है, इसी प्रकार दुष्ट विचारों वाला शत्रु भी भयंकर होता है।

अरेर्हि दुर्हृदाद् भेयं, भग्नपुच्छादिवोरगात्।
महा० शान्ति० ८२-५७

टिप्पणी—(१) **मा प्रणक्**—न प्राप्त हो। प्र + नश् (प्राप्त होना, भ्वादि, पर०) + लुङ् प्र० १। नश् धातु का वेद में पाना अर्थ भी है। नश् का नक् रूप है। प्र + नक् = प्रणक्। अडागम नहीं, Inj. है। (२) **शंसः**—अनिष्टचिन्तन, अशुभ विचार। (३) **अररुषः**—अदाता या शत्रु का। नञ् + रा (देना, अदादि) + लिट् >क्वसु (वस्) = अररिवस् + ष० १। (४) **धूर्तिः**—धूर्तता, दुष्टता, हिंसा कर्म। (५) **रक्षा**—रक्षा करो। रक्ष् (रक्षा करना, भ्वादि) + लोट् म० १। रक्ष को रक्षा, छान्दस दीर्घ।

९३. दुर्जनों का संग छोड़ें

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वम्
उत्तिष्ठत प्र तरता सखायः ।
अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः
शिवान् वयमुत्तरेमाभि वाजान् ॥

ऋग्० १०-५३-८; अथर्व० १२-२-२६; यजु० ३५-१०

अन्वय—(हे सखायः), अश्मन्वती रीयते, सं रभध्वम्, उत्तिष्ठत, प्र तरत । अत्र ये अशेवाः असन्, (तान्) जहाम । वयं शिवान् वाजान् अभि उत्तरेम ।

शब्दार्थ—(हे सखायः) हे मित्रो, (अश्मन्वती) पत्थरों वाली नदी अर्थात् दुःखद संसाररूपी नदी, (रीयते) जा रही है, बह रही है । (सं रभध्वम्) प्रयत्न करो, पुरुषार्थ करो । (उत्तिष्ठत) उठो, तैयार हो जावो । (प्र तरत) अच्छे ढंग से पार कर जाओ । (अत्र) इस संसार में, (ये) जो, (अशेवाः) दुःखद, दुर्जन व्यक्ति, (असन्) हैं, होवें, (तान्) उनको, (जहाम) छोड़ दें । (वयम्) हम, (शिवान्) सुखदायी, कल्याणकारी, (वाजान् अभि) शक्ति या ऐश्वर्य के लिए, (उत्तरेम) पार पहुँचें, उतरें ।

हिन्दी अर्थ—हे मित्रो ! यह पत्थरों वाली (संसाररूपी) नदी बह रही है । प्रयत्न करो, उठो और इसे पार कर जाओ । यहाँ जो दुर्जन व्यक्ति हैं, उन्हें छोड़ दो । हम कल्याणकारी शक्ति या ऐश्वर्य के लिए पार पहुँचें ।

Eng. Tr.—O Friends ! the sinful and sorrowful world is passing like a river, the flow of which is obstructed by heavy boulders. Persevere, arise and cross it. Leave the company of the un-righteous. Cross the river of life for the attainment of welfare and prosperity.

अनुशीलन—संसार सुख की शय्या नहीं है। इसमें पग-पग पर कठिनाई और विघ्न हैं। इन विघ्नों को हटाने पर ही जीवन में सफलता मिलती है। इसके लिए इस मन्त्र में दो उपाय बताए गए हैं—१. पुरुषार्थ का आश्रय लेना, २. दुर्जनों की संगति को छोड़ना। ये दोनों उपाय बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। जिस प्रकार सड़क पर पड़े हुए पत्थर को हटाए बिना मार्ग साफ नहीं होता है, उसी प्रकार संसार में प्रतिदिन सामने आने वाले विघ्नों को हटाए बिना जीवन में उन्नति नहीं हो सकती। मन्त्र में संसार को पत्थर वाली नदी कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार नदी का तीव्र वेग बड़े-बड़े पत्थरों को बहा देता है और अपना मार्ग बना लेता है, उसी प्रकार दुःखमय और क्लेशबहुल संसार को भी सुखमय बनाया जा सकता है। आवश्यकता है—केवल पुरुषार्थ और तीव्र इच्छा-शक्ति की। जहाँ तीव्र इच्छाशक्ति होगी, वहाँ विघ्न रुक नहीं सकते। जीवन को सुखमय बनाने के लिए दूसरा उपाय बताया गया है—कुसंगति का परित्याग। मनुष्य के पतन का मुख्य कारण कुसंगति या दुर्जन व्यक्तियों का सम्पर्क है। ये दुर्जन ही मनुष्य को पतित करते हैं, अतः सुख की कामना है तो इन दुर्जनों का साथ सदा के लिए छोड़ देना चाहिए।

टिप्पणी—(१) **अश्मन्वती**—पत्थरों वाली नदी। अश्मन्—पत्थर। संसार-रूपी सिन्धु के लिए रूपक है। (२) **रीयते**—बहती है। री (बहना, दिवादि आ०) + लट् प्र० १। (३) **सं रभध्वम्**—यत्न करो। रभ् (पकड़ना, भ्वादि आ०) + लोट् म० ३। (४) **उत् तिष्ठत**-उठो। उत् + स्था (उठना, भ्वादि + लोट् म० ३। (५) **प्र तरत**—पार करो। तॄ (पार करना, भ्वादि) + लोट् म० ३। छान्दस दीर्घ। (६) **अत्रा**—अत्र, यहाँ। छान्दस दीर्घ। (७) **जहाम**—छोड़ते हैं। हा (छोड़ना, जुहोत्यादि, पर०) + लेट् उ० ३। (८) **असन्**—हों। अस् (होना, अदादि) + लेट् प्र० ३। (९) **अशेवाः**—दुःखदायी। शेव—सुख, अशेव—दुःखद व्यक्ति। (१०) **उत् तरेम**—उतरें। तॄ (पार करना) + विधिलिङ् उ० ३। (११) **वाजान्**—शक्ति, ऐश्वर्य, बल।

९४. वेद के द्रोहियों का नाश

उत् त्वां मन्दन्तु स्तोमाः, कृणुष्व राधो अद्रिवः ।
अव ब्रह्मद्विषो जहि ॥

ऋग्० ८-६४-१; साम० १९४,१३५४; अथर्व० २०-९३-१

अन्वय—(हे इन्द्र) त्वा स्तोमाः उत् मन्दन्तु । हे अद्रिवः, राधः कृणुष्व । ब्रह्मद्विषः अव जहि ।

शब्दार्थ—(हे इन्द्र) हे इन्द्र, (त्वा) तुझे, (स्तोमाः) स्तुतियां, (उत् मन्दन्तु) प्रसन्न करें । (हे अद्रिवः) हे वज्रधारी, (राधः) धन, (कृणुष्व) करो, दो । (ब्रह्मद्विषः) वेद के द्रोहियों को, ज्ञान के द्रोहियों को, (अव जहि) नष्ट करो ।

हिन्दी अर्थ—हे इन्द्र ! तुम्हें हमारी स्तुतियां प्रसन्न करें । हे वज्रधारी ! तुम हमें धन दो । तुम वेद (या ज्ञान) के द्रोहियों को नष्ट करो ।

Eng. Tr.—O Indra ! may our prayers please you. O Holder of the thunderbolt ! let you bestow wealth on us. May you destroy the enemies of the sacred knowledge.

अनुशीलन—इस मंत्र में परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि वह वेद के द्रोहियों को नष्ट कर दे ।

वेद परमात्मा का ज्ञान-भंडार है । यह संसार का मार्ग-दर्शक है । वेद ही संसार को ज्ञान की ज्योति देता है । मानव के कर्तव्याकर्तव्य का बोधक वेद ही है । वेद की ज्योति ने ही भारत को विश्व का अग्रगण्य बनाया था । आस्तिकता के लिए, पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति के लिए, धर्म अर्थ काम और मोक्ष के ज्ञान के लिए, भव-सिन्धु को पार करने के लिए, वेद ही मानव के पास सर्वोत्तम साधन है । जो इसके द्रोही हैं, जो वेद-ज्ञान को नष्ट करना चाहते हैं, जो वेद की शिक्षाओं का अपलाप करते हैं, वे अपने दुष्कर्मों के फलस्वरूप स्वयं नष्ट हो जाते हैं । वेद ज्योति है, प्रकाश है और सन्मार्ग का दीपक है । जहाँ वेद की अवमानना है, वहाँ अन्धकार और असत्य का साम्राज्य होता है, अवनति पतन और विनाश होता है ।

इसलिए मंत्र ने शिक्षा दी है कि जिस प्रकार भी हो मानव अपनी उन्नति और समृद्धि के लिए वेदों की रक्षा करे।

टिप्पणी—(१) **उत् मन्दन्तु**—प्रसन्न करें। उत् + मन्द् (प्रसन्न करना, भ्वादि, पर०) + लोट् प्र० ३। (२) **कृणुष्व**—करो, दो। कृ (करना, स्वादि, आ०) + लोट् म० १। (३) **राधः**—धन। राधस् + द्वि० १। (४) **अद्रिवः**—हे वज्रधारी। अद्रि (वज्र) + वस् (धारण करने वाला) + सं० १। (५) **ब्रह्मद्विषः**—वेद या ज्ञान के द्रोहियों को। ब्रह्मन् के अर्थ हैं—वेद, ज्ञान, ब्राह्मण, प्रार्थना। ब्रह्मद्विष् + द्वि० ३। (६) **अव जहि**—मार दो, नष्ट कर दो। हन् (मारना, अदादि, पर० + लोट् म० १। हन् को ज आदेश।

९५. ब्रह्म और क्षत्र शक्ति का समन्वय

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च, सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं, यत्र देवाः सहाग्निना॥

यजु० २०–२५

अन्वय— यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च, सम्यञ्चौ सह चरतः। यत्र देवाः अग्निना सह (वर्तन्ते), तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषम्।

शब्दार्थ—(यत्र) जहाँ, जिस देश में, (ब्रह्म च क्षत्रं च) ब्रह्मशक्ति और क्षत्र शक्ति, ब्राह्मण और क्षत्रियवर्ण, (सम्यञ्चौ) मिलकर, ठीक ढंग से, (सह) साथ-साथ, (चरतः) चलते हैं, (यत्र) जहाँ, (देवाः) विद्वान् या वेदज्ञ लोग, (अग्निना सह वर्तन्ते) अग्नि के साथ रहते हैं, अग्निहोत्र करते हैं, (तं लोकम्) उस लोक को, उस देश या स्थान को, (पुण्यम्) पुण्यदेश, पवित्र-स्थान, (प्रज्ञेषम्) जानें।

हिन्दी अर्थ—जहाँ ब्रह्मशक्ति (ब्राह्मणवर्ण) और क्षत्रशक्ति (क्षत्रिय-वर्ण) मिलकर साथ साथ चलते हैं और जहाँ विद्वान् लोग यज्ञ करते हैं, उस देश को पवित्र देश समझना चाहिए।

Eng. Tr.—That country is to be treated as pious, where knowledge (Brahman) and physical strength (Kshatra) go together and where the learned persons perform the sacrifice.

अनुशीलन—इस मंत्र में बताया गया है कि भूमंडल पर कौन सा देश पवित्र है ? पवित्रता कहाँ रहती है ?

मंत्र का कथन है कि जहाँ पर विद्वान् यज्ञ करते हैं और ब्रह्मशक्ति तथा क्षत्रशक्ति का समन्वय होता है, वह देश पवित्र है। देश की पवित्रता का यज्ञ से क्या संबन्ध है ? यज्ञ का सीधा संबन्ध वायु से है। वायु का संबन्ध जल से है, वर्षा से है। इस प्रकार यज्ञ का जलवायु से साक्षात् संबन्ध है। जिस स्थान की जैसी जल-वायु होगी, वैसा ही वहाँ का व्यवहार होगा, उसी प्रकार की भौतिक स्थिति होगी। दूषित जलवायु मानव के विचारों, संस्कारों और कर्तव्यों को दूषित करती है। इसके विपरीत शुद्ध जल-वायु मानव को सुसंस्कृत, परिष्कृत और शिष्ट बनाती है। जहाँ सद्भावना, सद्विचार, सामंजस्य और सौहार्द है, वह देश स्वयमेव पवित्र माना जाएगा।

ब्रह्मशक्ति और क्षत्रशक्ति के समन्वय का भाव यह है कि ज्ञान और कर्म, विवेक और पुरुषार्थ, विद्या और बल में समन्वय हो। जहाँ ज्ञान के अनुसार पुरुषार्थ होता है और पुरुषार्थ के अनुकूल ज्ञान होता है, वहाँ दोनों के समन्वय से सभी प्रकार की सफलता शीघ्र प्राप्त होती है। इसी प्रकार जिस देश में ब्राह्मणवर्ग यज्ञादि के द्वारा आस्तिकता फैलाते हैं और क्षत्रियवर्ग सुरक्षा के द्वारा देश को सुरक्षित रखते हैं, वह देश पवित्र माना जाता है।

टिप्पणी—(१) **ब्रह्म च क्षत्रं च**—ब्रह्मशक्ति और क्षत्रशक्ति। ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण। (२) **सम्यञ्चौ**—मिलकर। सम् + अञ्च् (साथ चलना) + प्र० २। सम् को समि आदेश। (३) **चरतः**—चलते हैं। चर् (चलना, भ्वादि, पर०) + लट् प्र० २। (४) **लोकम्**—यहाँ लोक का अर्थ देश या स्थान है। (५) **पुण्यम्**—पवित्र स्थान, तीर्थ स्थान। (६) **प्रज्ञेषम्**— जानें, समझें। प्र + ज्ञा (जानना, क्र्यादि, पर०) + लुङ् उ० १। यह विधिलिङ्-मूलक लुङ् है। अडागम नहीं, Inj. है। (७) **देवाः**—विद्वान्, वेदपाठी, ब्राह्मण। विद्वानों के देव कहते हैं। 'विद्वांसो हि देवाः' शत० ब्रा० ३-७-३-१०। (८) **सह अग्निना**—अग्नि के साथ रहते हैं, अग्निहोत्र या यज्ञ करते हैं।

९६. ब्रह्म और क्षत्र शक्ति सुदृढ़ हों

ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि, रायस्पोषवनि पर्यूहामि ।
ब्रह्म दृꣳह क्षत्रं दृꣳह, आयुर्दृꣳह प्रजां दृꣳह ॥

यजु० ५-२७; ६-३

अन्वय—ब्रह्मवनि क्षत्रवनि रायस्पोषवनि त्वा पर्यूहामि । ब्रह्म दृंह, क्षत्रं दृंह, आयुः दृंह, प्रजां दृंह ।

शब्दार्थ—(ब्रह्मवनि) ब्रह्मशक्ति या ज्ञान को देने वाले, (क्षत्रवनि) क्षत्रशक्ति या क्षात्र बल को देने वाले, (रायस्पोषवनि) योगक्षेम को देने वाले, (त्वा) तुमको, (पर्यूहामि) स्थिररूप में रखता हूँ। (ब्रह्म दृंह) ब्रह्म शक्ति को दृढ करो, (क्षत्रं दृंह) क्षत्रशक्ति को दृढ़ करो। (आयुः दृंह) आयु को पुष्ट करो, (प्रजां दृंह) प्रजाओं को पुष्ट करो ।

हिन्दी अर्थ—हे परमात्मन् ! तुम ब्रह्मशक्ति (ज्ञान), क्षत्रशक्ति (बल) और योगक्षेम के देने वाले हो। तुम्हें स्थिर रूप में (हृदय में) रखता हूँ। तुम ब्रह्मशक्ति, क्षत्रशक्ति, आयु और प्रजाओं को दृढ़ करो।

Eng. Tr.—O God ! you are bestower of knowledge, physical strength and complete welfare. I place you in my heart. May you strengthen knowledge, valour, age and the progeny.

अनुशीलन—इस मंत्र में परमात्मा को ब्रह्म और क्षत्र शक्ति का दाता कहा गया है। साथ ही उसे योगक्षेम का कर्ता भी कहा गया है। परमात्मा ब्रह्मशक्ति, क्षत्रशक्ति, आयु और प्रजा हमें दे।

मंत्र में परमात्मा को ब्रह्म और क्षत्र शक्ति की प्राप्ति के लिए स्मरण किया गया है। उसे दोनों शक्तियों की प्राप्ति का साधन भी बताया गया है। 'पर्यूहामि' अर्थात् परमात्मा को हृदय में हम स्थिर रूप में रखते हैं। परमात्मा को हृदय में रखने का अभिप्राय है कि उसको सदा स्मरण करें। ब्रह्मशक्ति ज्ञान-शक्ति है

और क्षत्र-शक्ति शारीरिक बल है। ज्ञान और बल दोनों का विकास आत्म-बल से होता है। आत्म-बल की प्राप्ति ईश्वर के अस्तित्व की अनुभूति हृदय में करने से होती है। जब हृदय-मन्दिर में ईश्वर को स्थापित कर लेंगे तो पाप की भावना समाप्त हो जाएगी। पाप-बुद्धि समाप्त होते ही विवेक और संयम जागृत होता है। विवेक से ज्ञान और संयम से शारीरिक बल की प्राप्ति होती है।

ब्रह्म और क्षत्र शक्ति के विकास का फल है—रायस्पोष या योगक्षेम। इसी प्रकार इन दोनों शक्तियों के विकास से आयु की वृद्धि होगी और संतति-लाभ होगा। अतएव मंत्र में ब्रह्म और क्षत्र शक्ति को सुदृढ़ करने की प्रार्थना की गई है। योगक्षेम, आयु और संततिलाभ इन दोनों शक्तिओं के विकास के फल हैं।

टिप्पणी—(१) **ब्रह्मवनि**—ब्रह्मशक्ति या ज्ञान को देने वाले। ब्रह्मन् (ज्ञान) + वन् (देना) + इ। तीनों स्थान पर वनि के बाद विभक्ति का लोप है। (२) **क्षत्रवनि**—क्षत्रशक्ति या क्षात्रबल देने वाले। (३) **रायस्पोषवनि**—योगक्षेम के देने वाले। रायः–धनप्राप्ति, पोष–पुष्टि, सुरक्षा, वनि–देने वाले। (४) **पर्यूहामि**—स्थायी रूप से रखता हूँ। परि + ऊह् धातु का अर्थ है—स्थिर करना, स्थायी रूप से रखना। परि + ऊह् (भ्वादि, पर०) + लट् उ० १। (५) **दृंह**—दृढ़ करो, पुष्ट करो। दृंह् (दृढ़ करना, भ्वादि, पर०) + लोट् म० १।

९७. आस्तिकता के वातावरण में सभी सुखी

सर्वो वै तत्र जीवति, गौरश्वः पुरुषः पशुः।
यत्रेदं ब्रह्म क्रियते, परिधिर्जीवनाय कम्॥

अथर्व० ८-२-२५

अन्वय—सर्वः वै गौः अश्वः पुरुषः पशुः तत्र जीवति, यत्र इदं ब्रह्म जीवनाय कं परिधिः क्रियते।

शब्दार्थ—(सर्वः वै) सभी, (गौः अश्वः पुरुषः पशुः) गाय, घोड़े, मनुष्य और पशु, (तत्र जीवति) वहां जीवित रहते हैं, सुख से रहते हैं, (यत्र) जहां, (इदं ब्रह्म)

यह ब्रह्म, यह आस्तिकता का वातावरण, (जीवनाय कम्) सबके सुरक्षित जीवन के लिए, (परिधिः क्रियते) घेरे के रूप में रखा जाता है।

हिन्दी अर्थ—सभी गाय, घोड़े, मनुष्य और पशु वहां सुख से जीवित रहते हैं, जहां यह ब्रह्म (आस्तिकता, ईश्वर) सुखी जीवन के लिए घेरे के रूप में रखा जाता है, अर्थात् जहां आस्तिकता का वातावरण बनाया जाता है।

Eng. Tr.—Every thing, including the cows, the horses, the men and animals, live comfortably, where the Supreme Being is fixed firmly for the welfare.

अनुशीलन—इस मंत्र में शिक्षा दी गई है कि सुखी जीवन के लिए आस्तिकता का वातावरण बनाया जाए। जहां आस्तिकता और सात्त्विकता का वातावरण होता है, वहां सभी प्राणी सुख से रहते हैं।

ब्रह्म की परिधि क्या है? अपने चारों ओर ब्रह्म या परमात्मा की सत्ता को अनुभव करना ब्रह्म की परिधि है। परिधि चारों ओर सत्ता या व्याप्ति है। ब्रह्म चारों ओर है, यह ब्रह्म की परिधि या घेरा है। यह घेरा ही वातावरण है। चारों ओर सुख ही सुख देखना, स्वर्ग की अनुभूति है। इसी प्रकार चारों ओर दुःख ही दुःख देखना, नरक की अनुभूति है। जैसा वातावरण बनाया जाता है, वैसी ही अनुभूति होती है। सात्त्विकता, आस्तिकता और पवित्रता का वातावरण बनने पर सत्य, अहिंसा, अस्तेय की भावना जागृत होगी। जहां ये पवित्र भावनाएं व्याप्त होंगी, वहाँ समाज स्वयं सुखी होगा। चाहे मनुष्य हो या पशु, सभी को सुख और शान्ति की अनुभूति होगी।

टिप्पणी—(१) **जीवति**—जीवित रहता है। जीव् (जीवित रहना, भ्वादि) + लट् प्र० १। (२) **ब्रह्म**—ईश्वर, आस्तिकता। (३) **परिधिः क्रियते**—वातावरण के रूप में रखा जाता है। परिधि का अभिप्राय वातावरण है। (४) **जीवनाय कम्**—सुखी जीवन के लिए। कम् अव्यय है। इसका अर्थ है—अवश्य, वस्तुतः। इसके साथ पूर्ववर्ती शब्द में चतुर्थी होती है।

९८. सात मर्यादाएं पालन करें

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुः,
तासामिदेकामभ्यंहुरो गात् ।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीडे
पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥

अथर्व० ५-१-६; ऋग्० १०-५-६; निरुक्त ६-२७

अन्वय—कवयः सप्त मर्यादाः ततक्षुः, तासाम् एकाम् इत् अंहुरः अभि गात् । आयोः स्कम्भः ह, उपमस्य नीडे, पथां विसर्गे, धरुणेषु तस्थौ ।

शब्दार्थ—(कवयः) विद्वानों ने, (सप्त मर्यादाः) सात मर्यादाएँ, सात निषिद्ध कर्मः, (ततक्षुः) निर्धारित किए हैं, बताए हैं । (तासाम् एकाम् इत्) उनमें से एक भी निषिद्ध कर्म को, (अंहुरः) पापी आदमी ही, (अभिगात्) करता है । (आयोः स्कम्भः ह) आयु का आधार, पवित्र जीवन वाला व्यक्ति, (उपमस्य नीडे) सर्वोत्तम मोक्ष के आधारभूत, (पथां विसर्गे) जहां मार्गों का अन्त होता है, जहाँ सभी मार्ग पहुँचते हैं, (धरुणेषु) आधारभूत परमात्मा में (तस्थौ) स्थिर होता है, परमात्मा के ध्यान में मग्न होता है ।

हिन्दी अर्थ—विद्वानों ने सात मर्यादाएं (निषिद्ध कर्म) निर्धारित की हैं। उनमें से एक को भी करने वाला पापी होता है। आयु के आधारभूत संयम का पालने वाला व्यक्ति, सर्वोत्तम आधार, जीवन के लक्ष्य, स्थिर ब्रह्म में स्थित होता है।

Eng. Tr.—The wise-men have prescribed seven sins as prohibited. Who-so-ever commits any one of them, is to be regarded a sinner. One, who observes penance as the base of longevity, attains the Supreme Being, who is the best supporter and the aim of the life.

अनुशीलन—इस मंत्र में सात मर्यादाओं का उल्लेख है। इनमें से किसी एक में भी मनुष्य प्रवृत्त होता है तो पापी होता है। ये सात निषिद्ध कर्म हैं—१. चोरी, २. व्यभिचार, ३. ब्रह्महत्या, ४. मद्यपान, ५. बारबार दुष्कर्म करना, ६. गर्भपात, ७. पाप करके झूठ बोलना। निरुक्तकार यास्क ने ये सात निषिद्ध कर्म गिनाए हैं।

स्तेयं तल्पारोहणं ब्रह्महत्यां भ्रूणहत्यां सुरापानं दुष्कृतस्य
कर्मणः पुनः पुनः सेवां पातकेऽनृतोद्यमिति। निरुक्त ६-२७

इनमें प्रथम चार मनुस्मृति आदि में महापातक में गिनाए गए हैं। ये पाप व्यक्ति और समाज दोनों को पतित करते हैं।

मंत्र का कथन है कि जो इन पापों में से एक भी पाप करता है, वह पापी होता है। जो अधिक पाप करता है, वह महापापी होता है।

मनुष्य पाप क्यों करता है और उसका नियन्त्रण कैसे हो सकता है, इस पर विचार करते हुए मनु, याज्ञवल्क्य, वृद्ध हारीत आदि ने अपनी स्मृतियों में लिखा है कि पापों का मूल कारण आचारहीनता है। आचारहीनता के कारण मनुष्य असंयम करते हैं और धर्म को छोड़ देते हैं।

इन्द्रियाणां प्रसंगेन, धर्मस्यासेवनेन च।
पापान् संयान्ति संसारान्, अविद्वांसो नराधमाः॥ मनु० १२-५२

याज्ञवल्क्य स्मृति (३-२१९) और वृद्ध हारीतस्मृति (६-१६६) में भी यही भाव है।

इस मंत्र में सात पापों से वे सभी निषिद्ध कर्म लिए जा सकते हैं, जो पांच ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धि को हानि पहुंचाते हैं या दूषित करते हैं। इनमें असंयम सबसे प्रमुख है। अतएव मंत्र के उत्तरार्ध में कहा गया है कि आयु के आधारभूत संयम के पालन करने से मनुष्य जीवन के लक्ष्य ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

टिप्पणी—(१) **सप्त मर्यादाः**—सात मर्यादाएं या निषिद्ध कर्म हैं—(क) चोरी करना, (ख) व्यभिचार, (ग) ब्रह्महत्या, (घ) मदिरापान, (ङ) बार बार कुकर्म करना, (च) गर्भपात, भ्रूणहत्या, (छ) पाप करके झूठ बोलना। (२) **कवयः**—विद्वान् लोग। (३) **ततक्षुः**—बनाए हैं, निर्धारित किए हैं। तक्ष्

(बनाना, भ्वादि, पर०) + लिट् प्र० ३ । (४) अंहुरः—पापी । अंह् (पाप) + उर । (५) **अभि गात्**—जाता है । अभि + इ (जाना, अदादि) + लुङ् प्र० १ । इ को गा आदेश । अडागम नहीं, Inj. है । (६) **आयोः०**—आयु का आधारभूत, संयमी व्यक्ति । (७) **उपमस्य०**—उपम—सर्वोत्तम मोक्ष के, नीडे—आधार । (८) **पथां०**—जहाँ सभी मार्ग समाप्त होते हैं, अर्थात् जीवन के लक्ष्य । परमात्मा लक्ष्य है । वहीं संसार के सभी मार्गों का अन्त है । (९) **धरुणेषु**—आधारभूत ब्रह्म में । धरुण का अर्थ आधार है । (१०) **तस्थौ**—रुकता है, स्थित होता है । स्था (रुकना, भ्वादि) + लिट् प्र० १ ।

९९. नास्तिक का अपने कर्मों से नाश

य इन्द्र सस्त्यव्रतो-अनुष्वापमदेवयुः ।
स्वैः ष एवैर्मुमुरत्, पोष्यं रयिं, सनुतर्धेहि तं ततः ॥

ऋग्० ८-९७-३

अन्वय—हे इन्द्र, यः अदेवयुः अव्रतः अनुष्वापं सस्ति । स स्वैः एवैः मुमुरत् । तं पोष्यं रयिं ततः सनुतः धेहि ।

शब्दार्थ—(हे इन्द्र) हे इन्द्र, हे परमात्मम्, (यः) जो, (अदेवयुः) अ-देवभक्त, नास्तिक, (अव्रतः) नियमरहित, कर्महीन, (अनुष्वापम्) आलसी, निद्राशील, (सस्ति) सोता रहता है । (सः) वह, (स्वैः) अपने, (एवैः) कर्मों से, चाल-चलन से, (मुमुरत्) मरता है, मरा । (तं पोष्यं रयिम्) उसके उस पोष्य या संचित धन को, (ततः सनुतः) उससे दूर, अन्यत्र, अन्य व्यक्ति के पास, (धेहि) रखो ।

हिन्दी अर्थ—हे परमात्मन् ! जो नास्तिक अकर्मण्य और निद्राशील होकर सोता रहता है वह अपने कर्मों से ही मर जाता है (नष्ट हो जाता है) । उसके उस संचित धन को उससे दूर किसी अन्य के पास रखो ।

Eng. Tr.—O God ! one who is an atheist, inactive and

sleepy, dies of one's own actions. Give all the wealth, accumulated by such a person, to somebody else.

अनुशीलन—इस मंत्र में उल्लेख किया गया है कि नास्तिक और अकर्मण्य व्यक्ति का अपने कर्मों से ही नाश हो जाता है। इसका कारण बताया गया है कि अकर्मण्य मनुष्य सदा सोता रहता है, आलस्य करता है, अवसर पर कार्य नहीं करता है और ईश्वर पर विश्वास नहीं करता है।

जो आस्तिक है, उसमें आन्तरिक प्रेरणा होती है कि वह अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करे। आस्तिकता बताती है कि मनुष्य किसी लक्ष्य के लिए उत्पन्न हुआ है। उस लक्ष्य को प्राप्त करना उसका कर्तव्य है। लक्ष्य निर्धारित होने पर कर्म करना अनिवार्य हो जाता है। लक्ष्य की प्राप्ति की कामना मनुष्य को कर्मण्य बना देती है। वह आलस्य और प्रमाद के वशीभूत होकर सोता नहीं रह सकता है।

मंत्र में यह भी बताया गया है कि लक्ष्मी किसी के पास स्थायी नहीं रहती है। जो आलसी, प्रमादी, व्यसनी और अधार्मिक है, वह स्वभावतः अकर्मण्य हो जाता है। उसका प्रमाद उसके ऐश्वर्य को समाप्त कर देता है। वह पापी होकर अपने पापों से स्वयं मरता है। उसका ऐश्वर्य किसी दूसरे के पास चला जाता है।

टिप्पणी—(१) **सस्ति**—सोता है, सोता रहता है। सस् (सोना, अदादि, पर०) + लट् प्र० १। (२) **अव्रतः**—व्रतहीन, नियमरहित, कर्महीन, निकम्मा। (३) **अनुष्वापम्**—अनु–निरन्तर, स्वापम्–सोनेवाला। सदा आलसी, निद्राशील। (४) **अदेवयुः**—अ–नहीं, देवयुः–देवभक्त, आस्तिक। नास्तिक व्यक्ति। (५) **एवैः**—कर्म से, व्यवहार से। एव (चाल, कर्म) + तृ० ३। (६) **मुमुरत्**—मरता है, मरा। मृ (मरना, स्वादि, पर०) + णिच् + लुङ् प्र० १। अडागम नहीं, Inj. है। (७) **सनुतः**—एक ओर, दूर, परे। सनुतर् अव्यय है। (८) **धेहि**—रखो। धा (रखना, जुहो०, पर०) + लोट् म० १।

१००. वरदा वेदमाता

स्तुता मया वरदा वेदमाता,
प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् ।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं
द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् ।
मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ॥

अथर्व० १९-७१-१

अन्वय—(हे देवाः), मया द्विजानां पावमानी वरदा वेदमाता स्तुता । प्र चोदयन्ताम् । आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्त्वा ब्रह्मलोकं व्रजत ।

शब्दार्थ—(हे देवाः) हे देवो, (मया) मैंने, (द्विजानाम्) द्विजों को, ब्राह्मणादि को, (पावमानी) पवित्र करने वाली, (वरदा) वर देने वाली, अभीष्ट-साधक, (वेदमाता) वेदमाता की, (स्तुता) स्तुति की । (प्र चोदयन्ताम्) आप सब हमें सत्कर्म में प्रेरित करें । (आयुः प्राणं प्रजाम्) आयु, जीवन, सुसन्तान, (पशुं कीर्तिं द्रविणम्) पशुधन, यश, धन, (ब्रह्मवर्चसम्) ब्रह्मतेज, (मह्यम्) मुझे, (दत्त्वा) देकर, (ब्रह्मलोकम्) ब्रह्मलोक को, (व्रजत) आप सब जाइए ।

हिन्दी अर्थ—हे देवो ! मैंने द्विजों को पवित्र करने वाली, वरदा (अभीष्ट-साधक) वेदमाता की स्तुति की है। आप सब मुझे प्रेरणा दें। दीर्घ आयु, जीवन-शक्ति, सुसन्तान, पशुधन, यश, वैभव और ब्रह्मतेज मुझे देकर ब्रह्मलोक को जाइए ।

Eng. Tr.—O Gods ! I have worshipped the boon-giver mother-like Knowledge (Vedamata), who makes pure and pious all consecrated beings. Inspire me. Give me long and energetic life, good family, animals, fame, riches and divine glory, before departing to the heaven.

अनुशीलन—वेदों की महिमा अपार है। वेद ज्ञान के स्रोत हैं। विश्व को सर्वप्रथम ज्ञान देने का श्रेय वेदों को है। वेद मानव-मात्र के लिए प्रकाश-स्तम्भ हैं। जहाँ वेदों की ज्योति है, वहाँ प्रकाश है, उन्नति है, सुख है, शान्ति है और सतत विकास है। इस मन्त्र में वेद को माता कहा गया है। जिस प्रकार माता सन्तान की रक्षा करती है, उसी प्रकार वेद सारे संसार की रक्षा के साधन हैं। माता अपने दूध से बालक को पुष्ट करती है, इसी प्रकार वेद ज्ञानरूपी दूध पिला-कर संसार में सुख की वृद्धि करते हैं। वेदमाता की सेवा से ही आर्यों का वंश अक्षय रहा है। वेदमाता वरदा है।

वेदों का स्वाध्याय प्रत्येक व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व की उन्नति का साधन है, विश्व-बन्धुत्व का प्रेरक है और विश्व-धर्म का संस्थापक है।

टिप्पणी—(१) **स्तुता**—स्तुति की। स्तु (स्तुति करना, अदादि) + क्त (त) + टाप् (आ)। (२) **वरदा**—वर देने वाली, अभीष्ट को पूरा करने वाली। (३) **वेदमाता**—वेद माता के तुल्य रक्षक हैं, पूज्य हैं। (४) **प्र चोदयन्ताम्**—प्रेरित करें, प्रेरणा दें। प्र + चुद् (प्रेरणा देना, भ्वादि) + णिच् + लोट् प्र० ३। प्र० पु० बहुवचन है, अतः देवाः का अध्याहार है। प्रचोदयन्ती पाठ मानने पर अर्थ होगा—प्रेरणा देने वाली वेदमाता। (५) **व्रजत**—जाओ। हे देवो, ब्रह्मलोक को जाओ। तुम वेदपारायणकर्ता का उद्धार करने वाले हो, उसे आयु आदि देकर अपने स्थान ब्रह्मलोक को जाओ। व्रज् (जाना, भ्वादि) + लोट् म० ३।

॥ इति शम् ॥

परिशिष्ट

सुभाषित—संग्रह (सुखी समाज)

सूचना—कोष्ठ में मंत्र-संख्या दी गई है। शब्दार्थ, विवरण आदि के लिए संबद्ध मंत्र देखिए।

१. अकर्म ते स्वपसो अभूम। (२६)
[हमने ईश्वरार्पण बुद्धि से काम किया और कर्मठ हो गए।]

२. अगन्म ज्योतिरुत्तमम्। (२४)
[हम उत्तम ज्योति प्राप्त करें।]

३. अगन्म ज्योतिरमृता अभूम। (२५)
[हमें ज्योति मिली और हम अमर हो गए।]

४. अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते,
सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय। (६६)
[ऊंच-नीच का भेदभाव छोड़कर भ्रातृवत् व्यवहार करने वाले सौभाग्य को प्राप्त हुए।]

५. अत्रा जहीत ये असन्नशिवाः। (९३)
[पापियों का साथ छोड़ें।]

६. अनुव्रतः पितुः पुत्रः। (७२)
[पुत्र पिता का आज्ञाकारी हो।]

७. अन्नपतेऽन्नस्य नो देहि-अनमीवस्य शुष्मिणः। (७५)
[परमात्मा हमें रोग-नाशक एवं शक्तिप्रद अन्न दे।]

८. अपघ्नन्तो अराव्णः। (७)
[कृपणों को नष्ट करो।]

९. अप्रजाः सन्त्वत्रिणः। (९१)
[शोषकवर्ग का नाश हो, वे संतानहीन हों।]

१०. अभयं नः पशुभ्यः । (३३)
[हमारे पशु निर्भय रहें ।]
११. अव ब्रह्मद्विषो जहि । (९४)
[वेद को द्रोहियों को नष्ट करो ।]
१२. अविदाम देवान् स्वर्ज्योतिः । (२५)
[हमने देवों को और दिव्य ज्योति को पाया ।]
१३. आचार्यो ब्रह्मचर्येण, ब्रह्मचारिणमिच्छते । (४४)
[चरित्रवान् आचार्य ब्रह्मचारी को चाहता है ।]
१४. आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः । (१३)
[हमें सभी ओर से शुभ विचार प्राप्त हों ।]
१५. इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं, न स्वप्नाय स्पृहयन्ति । (११)
[देवता पुरुषार्थी को चाहते हैं, आलसी को नहीं ।]
१६. इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः । (७)
[आस्तिक और कर्मठ हों ।]
१७. इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण, देवेभ्यः स्वराभरत् । (४३)
[इन्द्र ने ब्रह्मचर्य से देवों को सुख प्राप्त कराया ।]
१८. ईशा वास्यमिदं सर्वम् । (३)
[परमात्मा सारे संसार में व्याप्त है ।]
१९. उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ । (५६)
[तुम्हारी भुजाएं उग्र हों, तुम अजेय होओ ।]
२०. उत्तिष्ठत सं नह्यध्वम् । (५८)
[उठो और तैयार हो जाओ ।]
२१. उत्तिष्ठत प्र तरता सखायः । (९३)
[मित्रो, उठो और भव-सिन्धु को पार करो ।]
२२. उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्माः । (५३)
[पृथिवी पर कोई भी अस्वस्थ और रोगी न हो ।]
२३. उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः । (१९)
[परिवार में गाय, बकरी और भेड़ हों ।]

२४. उरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु । (२८)
[पृथिवी पर हमारा विशाल साम्राज्य हो ।]

२५. ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे । (७५)
[हमारे सभी मनुष्य और पशु शक्तिशाली हों ।]

२६. ऋध्याम कर्मापसा नवेन । (८२)
[हन नवीन उद्योग से समृद्ध हों ।]

२७. ऋषयो मा बिभीतन । (२४)
[ऋषियों को कोई भय नहीं है ।]

२८. एष वां द्यावापृथिवी उपस्थे,
मा क्षुधत्, मा तृषत् । (८०)
[इस पृथिवी पर कोई भूखा-प्यासा न रहे ।]

२९. कुर्वन्नेवेह कर्माणि, जिजीविषेच्छतं समाः । (१०)
[सौ वर्ष कर्म करता हुआ ही जीवित रहना चाहे ।]

३०. कृण्वन्तो विश्वमार्यम् । (७)
[संसार का आर्य बनाओ ।]

३१. गणान् मे तर्पयत, गणा मे मा वितृषन् । (४०)
[हमारे संघ पुष्ट हों । वे कभी उपेक्षाभाव न रखें ।]

३२. जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् । (६७)
[पृथिवी नाना भाषाभाषियों और नाना धर्म वालों को एक परिवार के तुल्य रखती है ।]

३३. जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त । (४९)
[सर्व-जन-कल्याणकारी राष्ट्र हो ।]

३४. जना यदग्निमयजन्त पञ्च । (६५)
[सभी वर्णों के लोग यज्ञ करें ।]

३५. जाया पत्ये मधुमतीं, वाचं वदतु शन्तिवाम् । (७२)
[पत्नी पति से मधुर और सुखद वचन बोले ।]

३६. तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं, यत्र देवाः सहाग्निना । (९५)
[जहाँ विद्वान् यज्ञ करते हैं, वह पवित्र भूमि है ।]

३७. तान् सत्यौजाः प्र दहत्वग्निः । (३२)
[सत्य की अग्नि शत्रुओं को नष्ट करे ।]

३८. तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः । (३)
[परमात्मा के द्वारा दिए हुए को त्यागभाव से भोगो ।]

३९. तेन सत्येन जागृतम् । (३०)
[सत्य से सदा प्रबुद्ध रहो ।]

४०. दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति । (२९)
[योग्यता से श्रद्धा को प्राप्त करता है ।]

४१. देहि मे ददामि ते, नि मे धेहि नि ते दधे । (७०)
[तुम मुझे दो, मैं तुम्हें दूं। तुम मेरे लिए रखो; मैं तुम्हारे लिए ।]

४२. द्विपाच्चतुष्पादस्माकं, सर्वमस्त्वनातुरम् । (७९)
[हमारे सभी मनुष्य और पशु नीरोग हों ।]

४३. धियो यो नः प्रचोदयात् । (१)
[परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग पर प्रेरित करे ।]

४४. न दुरुक्ताय स्पृहयेत् । (८६)
[कटु वचन न बोले ।]

४५. न मिनन्ति स्वराज्यम् । न देवो नाध्रिगुर्जनः । (४७)
[स्वराज्य को देव या विजेता कोई नहीं रोक सकता ।]

४६. पाप्मा हतो न सोमः । (३४)
[पाप नष्ट हों, सद्गुण नहीं ।]

४७. पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः । (६०)
[परस्पर एक-दूसरे की रक्षा करो ।]

४८. प्रेता जयता नरः । (५६)
[वीरो, आगे बढ़ो और विजयी हो ।]

४९. प्रियं मा कृणु देवेषु, प्रियं राजसु मा कृणु । (२०)
[मैं विद्वानों और राजाओं का प्रिय होऊं ।]

५०. ब्रह्मचर्येण तपसा, देवा मृत्युमुपाघ्नत । (४३)
[ब्रह्मचर्य के तप से देवों ने मृत्यु को जीता ।]

५१. ब्रह्म दृंह क्षत्रं दृंह, आयुर्दृंह प्रजां दृंह । (९६)
[ब्राह्मण, क्षत्रिय, प्रजा और आयु पुष्ट हों ।]

५२. भर्गो देवस्य धीमहि । (१)
[हम परमात्मा के दिव्य तेज को धारण करते हैं ।]

५३. भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः । (२७)
[हे देवो, हम कान से शुभ वचन सुनें ।]

५४. भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । (२७)
[हे देवो, हम आंख से शुभ वस्तु देखें ।]

५५. भूमे मातर्नि धेहि मां, भद्रया सुप्रतिष्ठितम् । (५०)
[हे मातृभूमि, तुम मुझे शुभ लक्ष्मी से सुप्रतिष्ठित करो ।]

५६. मन्त्रश्रुत्यं चरामसि । (९)
[वेद के मंत्रों के आदेशानुसार आचरण करें ।]

५७. महते जानराज्याय । (४९)
[देव हमें महान् जनतंत्र राज्य के लिए प्रेरित करें ।]

५८. मा गृधः कस्यस्विद् धनम् । (३)
[किसी के धन को लोभवश मत चाहो ।]

५९. मा भेर्मा संविक्थाः, ऊर्जं धत्स्व । (३४)
[न डरो, न कांपो, हिम्मत रखो ।]

६०. माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः । (५१)
[पृथिवी हमारी माता है, हम उसके पुत्र हैं ।]

६१. मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षत्, मा स्वसारमुत स्वसा । (७३)
[भाई भाई से और बहिन बहिन से द्वेष न करे ।]

६२. मा नो अग्नेऽमतये, मावीरतायै रीरधः । (८५)
[हम दुर्बुद्धि और कायरता के वशीभूत न हों ।]

६३. मा नो रीरधतं निदे । (८८)
[दूसरे की निन्दा न करें ।]

६४. मायाभिरिन्द्र मायिनं, त्वं शुष्णमवातिरः ।
[इन्द्र ने मायावी को माया से ही जीता ।]

६५. मान्तः स्थुर्नो अरातयः । (९०)
[शत्रु हमारे अन्दर न रहने पावें ।]

६६. यतो यतः समीहसे, ततो नो अभयं कुरु । (३३)
[सब ओर से हम निर्भय हों ।]

६७. यथेमां वाचं कल्याणीम्, आवदानि जनेभ्यः । (८)
[पवित्र वेदवाणी सब लोगों तक पहुँचावें ।]

६८. यद् भद्रं तन्न आसुव । (२)
[परमात्मन्, शुभ गुण हमें दीजिए ।]

६९. यन्ति प्रमादमतन्द्राः । (११)
[पुरुषार्थी व्यक्ति ही श्रेष्ठ आनन्द को पाते हैं ।]

७०. यशसं कारुं कृणुहि । (८२)
[हमें यशस्वी शिल्पी बनाइए ।]

७१. योगक्षेमो नः कल्पताम् । (४)
[हमारे लिए योग-क्षेम हो ।]

७२. रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु, रुचं राजसु नस्कृधि । (२१)
[हमारे ब्राह्मण और क्षत्रिय तेजस्वी हों ।]

७३. रुचं विश्येषु शूद्रेषु, मयि धेहि रुचारुचम् । (२१)
[वैश्य और शूद्र तेजस्वी हों । मैं भी तेजस्वी होऊँ ।]

७४. लोककृतः पथिकृतो यजामहे । (६९)
[मार्गदर्शक समाजसेवियों को नमस्कार ।]

७५. वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम । (५३)
[हम देश के लिए बलिदान हों ।]

७६. वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः । (५२)
[हम राष्ट्ररक्षा में जागरूक और अग्रगण्य हों ।]

७७. वाचं वदत भद्रया । (७३)
[शिष्टतापूर्वक एक-दूसरे से बातचीत करो ।]

७८. विश्वं तद् भद्रं यदवन्ति देवाः । (२६)
[परमात्मा जो करता है, अच्छा करता है ।]

७९. विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त । (४९)
[विश्व-हित के लिए राष्ट्रोन्नति करें ।]

८०. विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम् । (७८)
[हमारे ग्राम में सभी हृष्ट-पुष्ट और नीरोग हों ।]

८१. व्रतेन दीक्षामाप्नोति, दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् । (२९)
[व्रत से दीक्षित होता है । दीक्षा से योग्यता आती है ।]

८२. शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः । (५५)
[इन्द्र ने सैकड़ों शत्रु-सेनाओं को एक बार में जीता ।]

८३. श्रद्धया सत्यमाप्यते । (२९)
[श्रद्धा से सत्य-स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति होती है ।]

८४. श्रियां मा धेहि भूत्याम् । (५०)
[मुझे श्री और वैभव से युक्त करो ।]

८५. सं गच्छध्वं सं वदध्वम् । (३६)
[मिलकर चलो, मिलकर बोलो ।]

८६. सं वो मनांसि जानताम् । (३६)
[तुम्हारे मन एक प्रकार से विचार करें ।]

८७. सत्यं बृहद् ऋतमुग्रं दीक्षा तपो
ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति । (२८)
[महान् सत्य, उग्र ऋत, दीक्षा, तप, आस्तिकता
और यज्ञ, ये पृथिवी को धारण करते हैं ।]

८८. समानो मन्त्रः समितिः समानी । (३७)
[हमारी मन्त्रणाएँ और समितियाँ एक प्रकार की हों ।]

८९. समानी व आकूतिः, समाना हृदयानि वः । (३८)
[तुम्हारे संकल्प और तुम्हारे हृदय समान हों ।]

९०. सहृदयं सांमनस्यम्, अविद्वेषं कृणोमि वः । (५९)
[तुममें सहृदयता, सांमनस्य और अद्वेष हो ।]

९१. सं वो मनांसि सं व्रता, समाकूतीर्नमामसि । (३९)
[तुम्हारे मन, कर्म और विचार समान हों ।]

९२. संशितं मे ब्रह्म, संशितं वीर्यं बलम् । (६२)
[मेरा ज्ञान, पराक्रम और बल तीक्ष्ण हो ।]

९३. सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तः । (२३)
[सत्कर्मकारी, तेजस्वी और आस्तिक हों ।]

९४. सुगः पन्था अनृक्षर, आदित्यास ऋतं यते । (३१)
[सत्यवादी का मार्ग सुगम और निष्कंटक होता है ।]

९५. समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः । (४१)
[तुम्हारे जलपान-गृह और भोजन-गृह एक हों ।]

९६. स्तुता मया वरदा वेदमाता
प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् । (१००)
[हे देवो, मैंने द्विजों को पवित्र करने वाली वरदा वेदमाता की स्तुति की है । आप मुझे प्रेरणा दें ।]

९७. स्वराज स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त । (४९)
[स्वराज्य वाला राष्ट्र हो ।]

९८. स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः । (५)
[गाय, मनुष्य और समस्त संसार का कल्याण हो ।]

९९. स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु । (५)
[हमारे माता-पिता का कल्याण हो ।]

१००. स्वैः ष एवैर्मुमुरत् । (९९)
[मनुष्य अपने कर्मों से मरता है ।]

———

वेदामृतम्-ग्रन्थमाला

४० भागों की रूपरेखा

लेखक : डा० कपिलदेव द्विवेदी

कुलपति, गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर, (हरिद्वार)

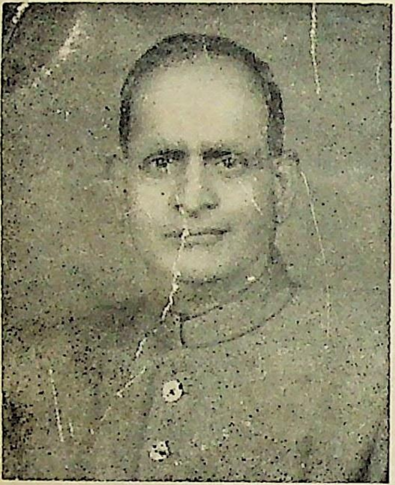
१. सुखी जीवन, २. सुखी गृहस्थ, ३. सुखी परिवार, ४. सुखी समाज, ५. वेदों में नारी, ६. वैदिक मनोविज्ञान, ७–८. वैदिक आचार-संहिता—(क) आचार-शिक्षा, (ख) नीतिशिक्षा, ९–११. वैदिक राजनीति-शास्त्र—(क), राष्ट्रधर्म, (ख) राज्यशासन, (ग) सैन्य-व्यवस्था, १२–१६. वैदिक समाजशास्त्र—(क) व्यक्ति और समाज, (ख) वर्णाश्रम-व्यवस्था, (ग) सामाजिक संगठन, (घ) संस्कार, (ङ) सामाजिक जीवन, १७–१८. वैदिक अध्यात्मक-शास्त्र—(क) अध्यात्म-मीमांसा, (ख) अध्यात्म-विद्या, १९–२१. वैदिक दर्शन—(क) ईश्वर, ब्रह्म, (ख) जीवात्मा, (ग) प्रकृति, सृष्टि-उत्पत्ति, २२. वैदिक यज्ञ-विज्ञान, २३–२७. वेदों में विज्ञान—(क), भौतिकी, (ख) रसायनशास्त्र, (ग) वनस्पतिविज्ञान, (घ) प्राणिविज्ञान, (ङ) अन्य विज्ञान, २८–३३. वेदों में आयुर्वेद—(क) शरीर-विज्ञान, (ख) रोग-चिकित्सा, (ग) विष-चिकित्सा, (घ) अन्य चिकित्सा, (ङ) दीर्घायुष्य (च) विविध ओषधियाँ, ३४. वैदिक अर्थशास्त्र, ३५. वेदों में कृषि एवं विविध शिल्प, ३६. वैदिक शिक्षाशास्त्र, ३७. वेदों में भाषाशास्त्रीय तत्त्व, ३८. वेदों में दिग्देश-काल-मीमांसा, ३९–४०. वैदिक सुभाषित-संग्रह, भाग १–२।

दों
में
में
था

करें
स्य

नित
on)

डा० कपिलदेव द्विवेदी



कुलपति, गुरुकुल महाविद्याल[illegible] ज्वालापुर (हरिद्वार)। ए[illegible] निदेशक, विश्वभारती अनुसंध[illegible] परिषद्, ज्ञानपुर (वाराणसी)।

जन्म—गहमर (गाजीपुर) उ० प्र०, तिथि—१६-१२-१९१९ ई०, **पिता**—श्री बलरामदास जी, **शिक्षा**—गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर (हरिद्वार), लाहौर, इलाहाबाद। **उपाधियां**—एम० ए० (संस्कृत, हिन्दी), डी० फिल्० (इलाहाबाद), व्याकरणाचार्य (वाराणसी)। जर्मन, फ्रेंच, रूसी, चीनी भाषाओं में विशेष योग्यता। यू० पी० ई० एस० (प्रथम श्रेणी)। अवकाश-प्राप्त प्राचार्य, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय। **प्रकाशन**—३० से अधिक ग्रन्थ। विशेष उल्लेखनीयः—१. अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन, २. भाषाविज्ञान एवं भाषाशास्त्र, ३. संस्कृत-व्याकरण, ४. संस्कृत निबन्ध-शतकम्, ५. प्रौढ रचनानुवाद कौमुदी, ६. रचनानुवाद-कौमुदी, ७. राष्ट्र-गीतांजलिः (गीति-काव्य)। उ० प्र० शासन द्वारा पुरस्कृत-ग्रन्थ—१. अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन (१९५२), २. संस्कृत-व्याकरण (१९७२), ३. संस्कृत निबन्ध-शतकम् (१९७७), ४. राष्ट्रगीतांजलिः (१९८१)।

'वेदों की महिमा अपार है। वेद ज्ञान के स्रोत [illegible]। विश्व को सर्वप्रथम ज्ञान देने का श्रेय वेदों को है। वेद मानव-मात्र के [illegible]ए प्रकाश-स्तम्भ हैं। जहाँ वेदों की ज्योति है, वहां प्रकाश है, उन्नति है, [illegible]ख है, शान्ति है और सतत विकास है।····वेदों का स्वाध्याय प्रत्येक व्य[illegible]क्त, समाज, राष्ट्र और विश्व की उन्नति का साधन है, विश्व-बन्धुत्व का प्रे[illegible]क है और विश्व [illegible]र्म का संस्थापक है।'

—डा० कपिलदे[illegible] द्विवेदी (वेदामृ[illegible]म्)